हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य परिचय

(History of Hindi Literature and Introduction to Literature)

राजेश कँवल

हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य परिचय

हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं साहित्य परिचय

(History of Hindi Literature and Introduction to Literature)

राजेश कँवल

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5601-1

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के अब तक लिखे गए इतिहासों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए हिन्दी साहित्य का इतिहास को सबसे प्रामाणिक तथा व्यवस्थित इतिहास माना जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसे हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा था, जिसे बाद में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में 1929 ई. में प्रकाशित कराया गया। आचार्य शुक्ल ने गहन शोध और चिन्तन के बाद हिन्दी साहित्य के पूरे इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाली है।

इतिहास-लेखन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी क्रमिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, जो अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करती चलती है। विवेचन में तर्क का क्रमबद्ध विकास ऐसे है कि तर्क का एक-एक चरण एक-दूसरे से जुड़ा हुआ, एक-दूसरे में से निकलता दिखता है। लेखक को अपने तर्क पर इतना गहन विश्वास है कि आवेश की उसे अपेक्षा नहीं रह जाती।

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक आचार्य शुक्ल का इतिहास इसी प्रकार तथ्याश्रित और तर्कसम्मत रूप में चलता है। अपनी आरम्भिक उपपत्ति में आचार्य शुक्ल ने बताया है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाने में आचार्य शुक्ल का इतिहास और आलोचना-कर्म निहित है।

इस इतिहास की एक बड़ी विशेषता है कि आधुनिक काल के सन्दर्भ में पहुँचकर शुक्ल जी ने यूरोपीय साहित्य का एक विस्तृत, यद्यपि सांकेतिक ही, परिदृश्य खड़ा किया है। इससे उनके ऐतिहासिक विवेचन में स्रोत, सम्पर्क और प्रभावों की समझ स्पष्टतर होती है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**आदि काल में हिन्दी साहित्य का विकास**	**1**
	सिद्ध और नाथ साहित्य	1
	जैन साहित्य	2
	रासो साहित्य	2
	आदिकालीन परिवेश	4
	ऐतिहासिक परिवेश	4
	सामाजिक परिवेश	5
	सांस्कृतिक परिवेश	6
	आदिकाल की प्रवृत्तियाँ	7
	रासो काव्य परंपरा का विकास	9
	पृथ्वीराज रासो की काव्य शैली	15
	विद्यापति के शृंगार वर्णन की विशेषताएँ	21
	आदिकालीन साहित्यिक रचनाओं की विशेषताएँ	26
2.	**भक्ति काल में हिन्दी साहित्य का विकास**	**28**
	भक्तिकालीन हिंदी साहित्य की चार काव्यधाराएँ	29
	भक्तिकालीन परिवेश	35
	ऐतिहासिक परिवेश	35
	सामाजिक परिवेश	36
	सांस्कृतिक परिवेश	37

साहित्यिक परिवेश 38
भक्ति आन्दोलन 40
रामचरितमानस 43
कैकेयी और कोपभवन 45
राम और रावण युद्ध 46
उत्कृष्ट महाकाव्य 47
तुलसीदास की भक्ति 48
भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धियाँ 57
3. रीति काल में हिन्दी साहित्य का विकास 62
रीति शब्द की व्याख्या 63
नामकरण 63
समृद्धि और विलासिता का काल 64
ऐतिहासिक परिवेश 65
सामाजिक परिवेश 65
सांस्कृतिक परिवेश 66
साहित्यिक परिवेश 67
रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ 68
रीतिकालीन दरबारी संस्कृति 69
रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति 71
4. भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य का विकास 82
नामकरण 83
भारतेन्दु युगीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 84
अनूदित और रूपान्तरित नाटक 89
उपन्यास 93
भारतेन्दु युग में निबंध 94
जीवन एवं योगदान 96
हिंदी साहित्य के भारतेंदु युग में मूल्य 102
5. द्विवेदी युग में हिन्दी साहित्य का विकास 109
नामकरण 114
द्विवेदी युगीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 115
मैथिलीशरण गुप्त 117

मुकुटधर पाण्डेय 118
रामचन्द्र शुक्ल की विवेचना 121
साहित्य के लिए रचनात्मक संघर्ष 121
द्विवेदी युगीन निबंध 126
द्विवेदीयुगीन नाटक 129
पौराणिक नाटक 130
ऐतिहासिक नाटक 131
6. छायावादी हिन्दी साहित्य 134
छायावाद की परिभाषा 135
छायावाद शब्द का प्रयोग 138
छायावाद का स्वरूप 139
समाज का अन्तर्विरोध 145
छायावाद युगीन अन्य काव्यधाराएँ 154
राष्ट्रीय- सांस्कृतिक काव्यधाराएँ 160
7. उत्तर छायावादी हिन्दी साहित्य 164
उत्तर छायावादी काव्य 167
वैयक्तिक गीति काव्य 170
राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा 176
8. प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य 180
प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 184
प्रगतिवादी प्रमुख रचनाकार 188
रामविलास शर्मा 189
9. प्रयोगवादी हिन्दी साहित्य 192
प्रयोगवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 195
अति बौद्धिकता 196
अनास्था 197
आस्था की भावना 197
यथार्थ चित्रण 198
क्षणवाद 199
मानवतावाद 200
श्रृंगारिकता 201

कुण्ठा और निराशा 202
प्रकृति चित्रण 203
आंचलिकता 204
भदेस या नग्नता 204
भाषा शैली 205
काव्य भाषा 205
छंदयोजना 206
बिम्ब योजना 206
प्रतीक योजना 207
10. नई कविता धारा एवं हिन्दी साहित्य 209
विशेषताएं 212
मानव-मूल्यों का विघटन 214
खंडित व्यक्तित्त्व 215
नूतन-मानव की कल्पना 216
कथ्य की व्यापकता 217
क्षण-शाश्वत 220
नई कविता के प्रमुख रचनाकार 222
भवानी प्रसाद मिश्र 225
नवगीत और नव गीतकार 227
समकालीन कविता 230

1

आदि काल में हिन्दी साहित्य का विकास

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग 8वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी के मध्य तक के काल को आदिकाल कहा जाता है। इस युग को यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'वीरकाल' नाम दिया है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर इसको चारण-काल कहा है और राहुल संकृत्यायन ने सिद्ध-सामन्त काल।

इस समय का साहित्य मुख्यत: चार रूपों में मिलता है–

1. सिद्ध-साहित्य तथा नाथ-साहित्य,
2. जैन साहित्य,
3. चारणी-साहित्य,
4. प्रकीर्णक साहित्य।

सिद्ध और नाथ साहित्य

यह साहित्य उस समय लिखा गया जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई है। सरहपा (सरोजपाद

अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गए हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध सहित्य के प्रमुख् कवि है। ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा में करते थे। उनकी सहजिया प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुंचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरन्गीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख कवि हैं। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैन साहित्य

अपभ्रंश की जैन-साहित्य परंपरा हिंदी में भी विकसित हुई है। जैन कवियों ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतू जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं।

जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतू जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरांत लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएं भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

रासो साहित्य

1. इस काल में रासो साहित्य की तीन प्रवृतियाँ देखने को मिलती हैं।
2. वीरगाथात्मक-पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो
3. धार्मिकता-भारतेश्वर बाहुबली रास
4. शृंगारिकता-संदेश रासक

चारणी-साहित्य

इसके अंतर्गत चारण के उपरांत ब्रह्मभट्ट और अन्य बंदीजन कवि भी आते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में चारणों का, तथा ब्रज-प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी राजस्थान में भट्टों का प्राधान्य रहा था। चारणों की भाषा साधारणत: राजस्थानी रही है और भट्टों की ब्रज। इन भाषाओं को डिंगल और पिंगल नाम भी मिले हैं। ये कवि प्राय: राजाओं के दरबारों में रहकर उनकी प्रशस्ति किया करते थे। अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे। श्रृंगार और वीर उनके मुख्य रस थे। इस समय की प्रख्यात रचनाओं में चंदबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, दलपति कृत खुमाण-रासो, नरपति-नाल्ह कृत बीसलदेव रासो, जगनिक कृत आल्ह खंड आदि मुख्य हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण पृथ्वीराज रासो है। इन सब ग्रंथों के बारे में आज यह सिद्ध हुआ है कि उनके कई अंश क्षेपक हैं।

प्रकीर्णक साहित्य

खड़ी बोली के आदि-कवि अमीर खुसरो इसी समय हुए हैं। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। विद्यापति के मधुर पदों के कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में भी इनकी रचनाएं मिलती हैं। इनकी पदावली का मुख्य रस श्रृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम-संदेश-काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुन्दर वर्णन, श्रृंगार-मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमश: उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

आदिकालीन परिवेश

प्रत्येक काल के परिवेश की अपनी पहचान होती है। समय परिवर्तन के साथ परिवेश में बदलाव होना स्वाभाविक है। इसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ रेखांकन योग्य हैं–

ऐतिहासिक परिवेश

भारतीय इतिहास का यह युग राजनीतिक दृष्टि से एवं ऐतिहासिक दृष्टि से गृह-कलह, पराजय एवं अव्यवस्था कार काल है। एक ओर तो इस युग का क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों में आच्छादित रहा और दूसरी ओर रजवाड़ों की पारस्परिक भीतरी कलह घुन की तरह इसे खोखला करती रही। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् भारत की संगठित सत्ता चूर-चूर हो गईं तथा भारत में एक विशाल मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हो गईं। आठवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिन्दू सत्ता के विकास की कहानी है।

आदिकालीन युग में चारों तरफ युद्धों का ही बोलबाला था इसलिए जीवन में कहीं भी सन्तुलन तथा शान्ति के दर्शन नहीं होते। इसी समय मोहम्मद गौरी ने भारत जीतने की चाहत से भारत पर कई आक्रमण किए। पृथ्वीराज चौहान उस समय अजमेर का शक्तिशाली राजा था। परन्तु विदेशी आक्रमण के प्रति विशेष जागरुक नहीं था। परिणामस्वरूप कन्नौज के राजा जयचन्द के षड़यन्त्र में फँस कर पृथ्वीराज चौहान मोहम्मद गौरी के हाथों हार गया और मारा गया। जयचन्द तथा परमदिदेव आदि शासकों की पास्परिक लड़ाइयाँ अन्तहीन कथाएँ बनती चली गईं और अन्त में दोनों का पतन हुआ।

दिल्ली में तुर्क सल्तनत की स्थापना हुई और धीरे-धीरे उसका विकास तथा विस्तार होता चला गया। अराजकता, गृह-कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते-मरते भी जीवन रस भोगना चाहता था और एक कवि ऐसा भी था जो तलवार के गीत गाकर गर्व से जीना चाहता था। यद्यपि इस युग में विरोध करने वाले भी सर्वत्र थे परन्तु फिर भी मुस्लिम ध्वज प्रायः समस्त उत्तरी भारत में फहराने लगा।

सामाजिक परिवेश

आदिकालीन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक परिस्थितियों पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जाति-व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर निरूपित की गयी। एक जाति अनेक उप-जातियों में विभक्त हो गईं। अल्बरूनी ने कहा है "उन्हें (हिंदूओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गयी है, उसे शुद्ध करके फिर ले लें।" उस समय के रूढिग्रस्त धर्म के समान समाज भी रूढिग्रस्त हो चुका था। नारियाँ भी शौर्य-प्रदर्शन में पुरुषों से कम न थी। जौहर उनके आत्म-बलिदान और शौर्य का प्रतीक था। राजाओं का जीवन विलास भरा था। उनका अधिकांश समय उप-पत्नियों के साथ रंग रेंलियों में व्यतीत होता था। राजकुमारों को बचपन से ही राजनीति, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाटक, गणितशास्त्र एवं कामशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। नारियों के संबंध में तत्कालीन समाज की धारणा अच्छी नहीं थी। उसे केवल भोग और विलास की सामग्री मात्र समझा गया। हिंदी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य-रचना की सामग्री जुटानी पड़ी। जिस युग में धर्म और राजनीति की दुर्दशा हो उसमें उच्च सामाजिकता की आशा नहीं की जा सकती है। जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। जनता भय तथा निरक्षरता के कारण ईश्वर की ओर दौड़ती थी, परन्तु सर्वत्र भ्रम और असहाय की ही स्थिति मिलती थी। जाँति-पाति के बन्धन मजबूत हो चले थे।

एक जाति की अनेक उप-जातियाँ होने लगीं। छुआछूत के नियम भी सख्त हो गए थे। उच्च वर्ग के लोग भोग करने के लिए तथा निम्न वर्ग के लोग जैसे काम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी तो केवल भोग की वस्तु मात्र रह गईं थी। उसे खरीदा और बेचा भी जाने लगा था। सामान्यजन के लिए सुरक्षा व शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं थी। सती प्रथा भी उस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों ने इस समाज को जकड़ लिया था। उस समय सर्वत्र वीरता और वंश-कुलीनता का बोलबाला था। वीरता और आत्मबलिदान राजपूत की विशेषता थी। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक खास पहचान थी। राजपूत दृढ़-प्रतिज्ञ, स्वामिभक्त, ईमानदार तथा कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी थे, परन्तु उनमें भोग-विलास के प्रति भी खूब आसक्ति थी। राजाओं का जीवन भी विलासप्रिय था। नृपति वर्ग का

अधिकांश समय अन्तपुर में महिषियों, उपपत्तियों तथा रक्षिताओं के साथ रंग-रलियों में बीतता था। राजा बहुपत्नी थे।

सांस्कृतिक परिवेश

हिंदी साहित्य में आदिकाल की शुरुआत उस समय हुई। जब भारतीय संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। आदिकाल हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलन का काल है। हर्षवर्द्धन के समय हिन्दू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति के शिखर पर थी। लोगों के आपसी भेद-भाव समाप्त हो गए थे तथा स्वाधीनता व देशभक्ति की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा था। संगीत, चित्रमूर्ति एवं भवन-निर्माण इत्यादि कलाओं में ज्यादा रुचि दिखाई देने लगी थी, विशेष रूप से मन्दिरों व मस्जिदों का निर्माण धार्मिक सद्भावना का घोतक था। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो, सोमनाथ, बेलोर काँची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण आदिकाल के आरम्भ के समय ही बनाए गए थे। आबू का जैन मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है जो कि भारतीय स्थापत्य का बेमिसाल नमूना है।

अरब इतिहासकार अलबरूनी तथा महमूद गजनवी इन मन्दिरों की भव्यता, विशालता तथा भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति को देखकर चकित रह गए थे। किन्तु देश के भाग्य की विडम्बना यह रही है कि शताब्दियों से श्रेष्ठता की साधना में तल्लीन महमूद गजनवी जैसे आक्रान्ताओं की विषयाकांक्षा का यह कोप-भाजन बन गया और शताब्दियों तक उस कोप से मुक्ति नहीं मिली।

अरब के देशों में आठवीं-नवीं शताब्दी में सूफी मत का उदय हो चुका था। किन्तु आदिकाल के अन्त तक भी उसके उदार स्वरूप का प्रवेश तक न हो सका। क्योंकि भारत में जो आक्रान्ता आए, वे उदार भावानाओं के समर्थन नहीं थे। इसलिए इस्लाम संस्कृति का पोषक तत्त्व न बन सका। परिणामस्वरूप दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सामने मानसिक तनाव की स्थिति में खड़ी एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती रहीं।

साहित्यिक परिवेश

यह युग पास्परिक कलह एवं बाह्य संघर्षो का युग था, पर संस्कृत साहित्य की रचना अबाध होती रही और ज्योतिष, दर्शन एवं स्मृति आदि विषयों पर

टीकाएँ लिखी जाती रहीं। डॉ. रामगोपाल शर्मा ने लिखा है, कि इस काल में साहित्य-रचना की तीन धारायें बह रही थीं। प्रथम संस्कृत साहित्य की थी, जो एक परम्परा के साथ विकसित होती जा रही थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, राजशेखर तथा जयदेव इसी युग की देन हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि धर्म-प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य तत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। हिंदी इस काल की ऐसी भाषा थी जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

आदिकाल की रचनाओं के आधार पर इस युग के साहित्य में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं–

ऐतिहासिक काव्यों की प्रधानता – ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर चरित काव्य लिखने का चलन हो गया था। जैसे-पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, कीर्तिलता आदि। यद्यपि इनमें प्रामाणिकता का अभाव है।

लौकिक रस की रचनाएँ – लौकिक-रस से सजी-संवरी रचनाएँ लिखने की प्रवृत्ति रही य जैसे-संदेश-रासक, विद्यापति पदावली, कीर्तिपताका आदि।

रुक्ष और उपदेशात्मक साहित्य – बौद्ध,जैन, सिद्ध और नाथ साहित्य में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति है, इनके साहित्य में रुक्षता है। हठयोग के प्रचार वाली रचनाएँ लिखने की प्रवृत्ति इनमें अधिक रही।

उच्च कोटि का धार्मिक साहित्य – बहुत सी धार्मिक रचनाओं में उच्चकोटि के साहित्य के दर्शन होते हैं, जैसे-परमात्म प्रकाश, भविसयत्त-कहा, पउम चरिउ आदि।

फुटकर साहित्य – अमीर खुसरो की पहेलियाँ, मुकरी और दो सखुन जैसी फुटकर (विविध) रचनाएँ भी इस काल में रची जा रही थीं।

युद्धों का यथार्थ चित्रण – वीरगाथात्मक साहित्य में युद्धों का सजीव और हृदयग्राही चित्रण हुआ है। कर्कश और ओजपूर्ण पदावली शस्त्रों की झंकार सुना देती है।

आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा, उनके युद्ध, विवाह आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है, लेकिन राष्ट्रीयता का अभाव रहा।

पारस्परिक वैमनस्य का प्रमुख कारण स्त्रियाँ थी। उनके विवाह एवं प्रेम प्रसंगों की कल्पना तथा विलास-प्रदर्शन में शृंगार का श्रेष्ठ वर्णन और उन्हें वीर रस के आलंबन-रूप में ग्रहण करना इस युग की विशेषता थी। स्पष्टत: वीर रस और शृंगार का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है।

चरित नायकों की वीर-गाथाओं का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन करने में ऐतिहासिकता नगण्य और कल्पना का आधिक्य दिखाई देता है।

चीजों के बारे में विस्तारपूर्वक वर्णन होने की वजह से वर्णनात्मकता का आधिक्य है।

प्रबंध (महा काव्य और खंडकावय) एवं मुक्तक दोनों प्रकार का काव्य लिखा गया। खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो प्रबंध काव्य के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। बीसलदेव रासो मुक्तक काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है।

रासो ग्रंथों की प्रधानता रही।

अधिकतर रचनाएँ संदिग्ध हैं।

इस युग की भाषा में निम्न प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं–

राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश (डिंगल) – वीरगाथात्मक रासक ग्रंथों में इस भाषा का स्वरूप देखने को मिलता है।

मैथिली मिश्रित अपभ्रंश– इस भाषा का स्वरूप विद्यापति की पदावली और कीर्तिलता में देखने को मिलता है।

खड़ीबोली मिश्रित देशभाषा– इसका सुंदर प्रयोग अमीर खुसरो की पहेलियों एवं मुकरियों में हुआ है।

इस युग की कृतियों में प्राय: सभी अलंकारों का समावेश मिलता है। पर प्रमुख रूप से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिश्योक्ति अलंकारों का प्रयोग हुआ।

दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, रोमा-छप्पय आदि छंदों का प्रयोग बहुतायत हुआ है।

इस युग में तीन रसों का निर्वाह हुआ है– वीर रस (चारण काव्य), शृंगार रस (चारण काव्य तथा विद्यापति की पदावली और कीर्तिलता में) तथा शांत रस (धार्मिक साहित्य में)।

रासो काव्य परंपरा का विकास

छंद वैविध्य परक रासो परंपरा की 'संदेश रासक' सुप्रसिद्ध रचना है।

पृथ्वीराज रासो – पृथ्वीराज रासो को हिन्दी भाषा एवं साहित्य का 'प्रथम महाकाव्य' होने का गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। वीरगाथा कालीन ग्रंथों में यही ग्रंथ सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

वास्तव में वीरगाथा कालीन साहित्य की प्रतिनिधि रचना होने के कारण इसका महत्त्व साहित्यिक मानदण्ड स्थिर करने में भी सहायक है। इस ग्रंथ के रचियता चन्दबरदाई हैं जो पृथ्वीराज चौहान के सखा, दरबारी कवि तथा एक वीर सेनापति रहे। इस ग्रंथ की कथावस्तु में अग्निकुल के राजपूतों की उत्पत्ति से लेकर मुहम्मद गौरी द्वारा पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का समग्र जीवन तथा ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता एवं संयोगिता स्वयंवर आदि का भी वर्णन किया है।

इस ग्रंथ की रचना 69 समयों (अध्यायों) में की गई है।

बीसलदेव रासो– इस वीर गीत काव्य की रचना संवत् 1212 वि. में हुई थी। इस की रचना करने वाले नरपति नाल्ह है। उन्होंने अपने आश्रयदाता विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव के चरित्र का सुन्दर वर्णन किया है। बीसलदेव बड़े वीर तथा पराक्रमी राजा थे उन्होंने यवनों के विरूद्ध कई सफल युद्ध किए।

परमाल रासो– इस ग्रंथ के रचनाकार जगनिक नामक भाट कवि हैं जिनका समय सवंत् जगनिक ने अपने आश्रयदाता चन्देल राजा परमाल के दरबार में रहते हुए वीर गीत काव्य की (52 लड़ाइयों की रचना की।

खुमान रासो– यह प्रबन्धात्मक काव्य दलपति विजय नामक कवि द्वारा रचित है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि इस ग्रंथ की जो मूल प्रति उपलब्ध हुई है। उसमें चितौड़ के द्वितीय खुमान के युद्धों का वर्णन है, जिसका समय 870 तथा 900 सवंत् के बीच माना गया है। जो प्रति वर्तमान युग की लिखी अथवा छपी मिलती हैं, उसमें बहुत परिवर्तन मिलता है। आधुनिक उपलब्ध प्रतियों को देखकर यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि मूल ग्रंथ की सामग्री क्या है। इस ग्रंथ की भाषा डिंगल ही है जो पुरानी राजस्थानी या मारवाड़ी कही जा सकती है।

विजयपाल रासो– मिश्रबंधुओं ने इस परम्परा की एक कृति 'विजयपाल रासो' का उल्लेख किया है जिसके रचियता नल्लसिंह है। इस कृति का नायक

विजयपाल सम्भवत: विश्वामित्र गोत्रीय गुहिलवंशीय राजा विजयपाल से भिन्न है जिसने 'काई' नामक वीर योद्धा को पराजित किया था। इस राजा के प्रयौत्र विजय सिंह का एक हिंदी शिलालेख दमोह में प्राप्त हुआ है। इस रचना में रचनाकार ने राजा विजयपाल सिंह और बंगराजा के बीच हुए युद्धों को सजीव रूप में चित्रित किया है। इसका रचनाकाल सन् 1298 ई. है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी नाम की दूसरी कृति का उल्लेख भी किया है जिसके रचनाकार मल्लदेव हैं। शिल्प विधान की दृष्टि से यह आदिकाल के बाद की रचना ठहरती है।

रासो साहित्य की प्रवृत्तियाँ

रासो साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं–

वस्तुपरक तथा कथ्यपरक प्रवृत्तियाँ

वस्तु कथ्य में अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन की अधिकता: समकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा को श्रेष्ठ वीर, पराक्रमी, सम्राट, दानवीर, दृढ़ प्रतिज्ञा, 'रणागत रक्षक और अनुपम सौन्दर्यशाली सिद्ध कर उसका अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया है। राजाओं का चरित्रांकन करना ही उस काल के रचनाकारों का मुख्य मकसद रहा था। रचनाकार दिन-रात शूर-वीर राजाओं के साथ रहता था। युद्ध के समय भी वह राजा का साथ नहीं छोड़ता था। वह युद्ध के समय सेना का नेतृत्व करता था और अपनी ओजस्वी कविताओं से सम्पूर्ण वातावरण और परिवेश को वीरोचित भावना से आपूरित करता था। इस उत्साह, संघर्ष और युद्ध के बीच भी वह राजाओं के यशोगान को बढ़ा चढ़ाकर वर्णित करना नहीं भूलता था।

"चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीति पर द्धर।
तास युद्ध मंडयौ, जास जानयौ सबर वर"।

सामंती समाज तथा उसमें निहित संस्कृति का चित्रण– चारण साहित्य प्रमुखत: सामन्तों का साहित्य है। इस साहित्य में सामंती सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के जिन सन्दर्भों का वर्णन किया गया है, वे अतिश्योक्तिपूर्ण अवश्य हैं पर उसमें यथार्थता भी है जिसे नकारा नहीं जा सकता। सामंतों की उपभोक्ता संस्कृति के अनेक चित्र इसमें सरलता से खोजे जा सकते हैं। विलासिता की प्रत्येक वस्तु के प्रति उनका गहरा लगाव है। कंचन

और कामिनी के प्रति जितने वे जागरुक हैं उतने निम्न और निम्न मध्यवर्ग के प्रति नहीं। सामाजिक कुरीतियों के अन्तर्गत बहु-विवाह, अनमेल-विवाह, गन्धर्वविवाह, सतीप्रथा जैसे अनेक रीति-रिवाजों का प्रचलन था। 'पृथ्वीराज रासो' में इन सामाजिक कुरीतियों का सविस्तार वर्णन मिलता है। उस काल में धर्म के नाम पर हिन्दू-मुसलमानों में आए दिन युद्ध होता रहता था।

"दोउ दीन दीनं कढी बंकि अस्सीं।
किधौं मेघ में बीज कोहिन्नि कस्सीं॥
किये सिप्परं कोर ता सेल अग्गी।
किधौं बद्दर कोर नागिन्न नग्गी"॥

युद्धों का जीवन्त वर्णन सामान्य जन-जीवन नगण्य– चारण काल की रचनाओं में सामंती परिवेश और जीवन को विभिन्न स्तरों के माध्यम से चित्रित किया है। इसमें सामान्य जन-जीवन का वर्णन नगण्य रहा है। दरबारी रचनाकारों से इस प्रकार की अपेक्षा करना गलत होगा कि वे सामान्य जन-जीवन की व्याख्या करें। उस समय के रचनाकार अपने आश्रयदाताओं को युद्ध के लिए प्रेरित करने वाली कविताओं का सृजन किया करते थे। यथा–

"बज्जिय घोर निसानं रान चौहान चहूँ दिसि।
सकल सूर सामंत समर बल जंत्र मंत्र तिसी"॥
उठ्ठि राज प्रथिराज वाग लग्ग मनहु वीर नट।
कढ़त तेग मन बेगं लगत मनहु बीजु घट्ट"॥

अर्द्धप्रामाणिक रचनाओं की अधिकता– चारण साहित्य के अन्तर्गत आने वाली अधिकांशत: रचनाएँ अर्द्धप्रामाणिकता के झूले पर झूल रही हैं। 'पृथ्वीराज रासो' प्रामाणिकता के अभाव में पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं पा सकी। 'खुमाण रासो' (आल्हाखण्ड) की जो प्रति उपलब्ध है उसका रूप बदला हुआ है। विषयवस्तु और शिल्प की दृष्टि से इन रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि इनमें कई शताब्दियों तक परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं जिसके कारण इनका मूल रूप खत्म-सा हो गया है।

प्रकृति के बहुआयामी स्वरूप की चर्चा– चारण साहित्य में प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है। उनमें प्रमुख ये हैं- आलम्बन, उद्दीपन, परिगणन, आलंकारिक, मानवीकरण आदि। प्रकृति को जहाँ आलम्बन और परिगणन रूप में प्रस्तुत किया गया है वहाँ यथार्थता की प्रधानता है, शेष प्रकृति-प्रसंगों में काल्पनिकता की अधिकता है।

इनमें ऋतुओं के जो चित्र उकेरे गए हैं उनमें अवान्तर रूप से कहीं पुरुष ओर कहीं स्त्री-विरह ही माध्यम बने हुए हैं। भावप्रवणता और प्राकृतिक सौन्दर्य के स्तर पर प्रकृति का उद्दीपन रूप अनुपम है। बसंत ऋतु का चित्रण करते हुए कवि चन्दवरदाई लिखते हैं–

"मवरि अंब फुल्लिंग, कदंब रयनी दिघ दींस।
भंवर भाव भुल्ले, भ्रमंत मकरंदव सींस।
बहत बात उज्जलति, मोर अति विरह अगति किय।
कुलकहंत कल कंठ, पत्र राषस रति अग्गिय"।

भावपरक प्रवृत्तियाँ

वीर तथा श्रृंगार रस वर्णन – तत्कालीन साहित्य में दो प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। दोनों ही प्रकार की रचनाओं में श्रृंगार या वीर रस की उद्भावना अवश्य देखी जा सकती है। प्रबन्ध काव्यों में एक साथ दोनों रसों का चित्रण मिलता है। चारणों ने अपनी रचनाओं में एक ओर युद्धों के वर्णन में वीरता और पराक्रम की अद्भुत सृष्टि की है तो दूसरी ओर रूप-सौन्दर्य, वस्तु-सौन्दर्य और प्रेम से परिपूर्ण सरस चित्र भी उतारे हैं। नारी दोनों रसों के केन्द्र में हैं। नारी प्राप्ति के लिए ही युद्ध होता है और उसकी प्राप्ति के बाद वातावरण विलासपूर्ण हो जाता है। 'पृथ्वीरास रासो' एक ऐसा अनूठा ग्रंथ है जिसमें वीर और श्रृंगार रसों की नियोजना के लिए ही अन्य रसों को भी समाहित किया गया है। श्रृंगार रस का उदाहरण दर्शनीय है–

"चंद बदन चष कमल, भौंह जनु भ्रमर गंधरत।
कीर नास बिबोष्ठ, दसन दामिनी दमक्कत।
भुज प्रनाल कुच कोक, सिंह लंकी गति वारून।
कनक कंति दुति देह, जंघ कदली दल आसन"।

इन रचनाकारों की रचनाओं का प्रमुख सरोकार सामंतों के विलासपूर्ण जीवन तथा उनकी वीरता और पराक्रम को वर्णित करना था।

विरहानुभूति वर्णन– इस काल के सांमतों की यह विशेषता थी कि वे एक साथ कई नारियों से प्रेम करते थे। उनके जीवन में नई नारियों का क्रम लगातार चलता रहता था। नई नारियों के आ जाने पर पुरानी नारियों के प्रति सामंतों की प्रीत कमजोर पड़ जाती थी जिससे वे निरंतर दु:खी रहती थीं। कभी-कभी विरहानुभूति का कारण प्रवास भी हुआ करता था। 'बीसलदेव रासो' एक विरह

प्रधान काव्य है जिसमें मान और प्रवास से ही विरह का प्रारम्भ दिखाया गया है। इस काल में नारी की कोई सामाजिक स्थिति नहीं थी। वह मात्र विलासिता की वस्तु थी। उसका समाज में कोई स्वतंत्र अस्तित्त्व नहीं था।

'पृथ्वीराज रासो' में संयोगिता के विरह-वर्णन का दृश्य अनूठा रहा है–

"बढ़ि वियोग बहुबाल, चंद विय पूरन मान।
बढ़ि वियोग बहुबाल, वृद्ध जोवन सम मानं।
बढ़ि वियोग बहुबाल, दीन पावस रिति बद्दढै।
बढ़ि वियोग बहुबाल, जज्जि कुल बधु दिन चद्दढै"।

शिल्पगत प्रवृत्तियाँ

रासो काव्य ग्रन्थों का सृजन– सामंतों के आश्रय में रहकर चारणों ने जिन काव्य ग्रन्थों की रचना की है। उन ग्रंथों के नाम के साथ 'रासो' शब्द जुड़ा हुआ है। इस रासो शब्द के सन्दर्भ में अनके विचार प्रचलित हो चुके हैं। अनेक विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पति राजसूय (गार्सा द तासी), रासा (डॉ. हरप्रसाद शास्त्री), रासक (प0 चन्द्रबली पाण्डेय) और रसिया शब्दों आदि से मानते हैं। जो नवीनतम खोजों के आलोक में समीचीन नहीं है। पं. मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या के अनुसार-"रासो शब्द संस्कृत के 'रास अथवा रासक' से बना है और संस्कृत भाषा में 'रास' के 'शब्द, ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन, नृत्य और कोलाहल आदि के अर्थ और रासक के काव्य अथवा दृश्य काव्यादि के अर्थ प्रसिद्ध हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' शब्द का मूल रूप 'रासक' को माना है। 'रासक' एक छंद भी है और काव्य रूप भी।

काव्य रूप– चारण साहित्य में सामंतों के चरित्रों को उद्घाटित करने के लिए जिस अतिरंजनापूर्ण शैली को अपनाया गया था, वे प्रबन्ध काव्य के अधिक निकट थी। वीर और पराक्रम के साहसपूर्ण कारनामों और साहसिक कार्यों को मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबंध काव्य में सफलतापूर्वक वर्णित करने की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। इसलिए इन चरितप्रधान काव्यों में प्रबंधात्मक शैली को ग्रहण किया गया।

अलंकार विधान– अलंकारों के प्रयोग से काव्यवस्तु की शोभा बढ़ जाती है। चारणों की कविता में अलंकारों का प्रयोग इसी आशय से किया गया है। अलंकार यहाँ अंग न होकर अंगी है। शब्दालंकार के रूप में इन काव्यों में

अनुप्रास, यमक, श्लेष, और वक्रोक्ति के अच्छे प्रयोग दिखलाई पड़ जाते हैं। यमक अलंकार का उदाहरण दृष्टव्य है–

"अंग सुलच्छिन हेम तन, नग धरि सुदरि सीस।
गौरी ग्रहि गोरी गयो, बिना जुद्ध बुझि रीस"॥

इन रासो ग्रंथों में अर्थालंकार के सफल प्रयोग भी किए गए हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, दीपक, भ्रम, अतिश्योक्ति, प्रतीप दृष्टान्त जैसे अनेक अलंकारों का प्रयोग काव्य-परम्परा को ध्यान में रखकर किया गया है। प्रचलित उपनामों के साथ कुछ नवीन उपनामों के प्रयोग से वस्तु, भाव और शिल्प में रोचकता और प्रभाव बढ़ा है। वे नवीन उपनाम अपनी अर्थ सुलभता और लोक-प्रसिद्धि के कारण अर्थ-गौरव में भी निःसंदेह वृद्धि कर सके हैं। यथा–

"जनु छैलनि कुलटा मिलै। बहुत दिवस रस षंक॥

सांगरूपकों के प्रयोग से चारणों ने पुरातन कथासूत्रों, प्राकृतिक सौन्दर्य और मौलिक उद्‌भावनाओं को साकार रूप दिया है–

"बाल नाल सरिता उतंग। आनंग अंग सुज॥
रूप सु तट मोहन तड़ाग। भ्रम भए कटाच्छ दुज"॥

छंद विधान– रासो साहित्य में छंदों के विविधि प्रयोग मिलते हैं जिनमें कुछ ऐसे हैं जिनके रूप का पता नहीं है। छंदों के प्रयोग से रचनाकार की प्रतिभा और दूरदर्शिता का पता चलता है। मात्रा और वृत्त से संबंधित इन छंदों का प्रयोग रासो में अधिक हुआ है। यथा- आर्मा, दूहा, पद्धरी, चौपाई, रासा, रोला, सोरठा, करषा, साटक, छप्पय, आदि। 'पृथ्वीराज रासो' में अड़सठ छंदों का प्रयोग मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में रचनाकारों को छंदों का विशिष्ट ज्ञान था। छंदों के सर्वाधिक प्रयोग के कारण ही तो 'चन्दवरदाई' को 'छप्पय का राजा' कहा गया है।

शिल्प विधान– शिल्प एक गतिशील प्रक्रिया है जो रचना की सृजनात्मकता को सार्थक बनाती है। शिल्प का रचाव बहुत कुछ भाषा के रचाव पर निर्भर करता है। भाषा की एक विशेष संरचना होती है। रचनाकार लोक-जीवन से उन सार्थक शब्दों को चुनता है जो उनके वस्तुलोक और भाव लोक को समृद्ध करते हैं। रचना की सम्प्रेषणीयता के आधार यही शब्द है। चारणों ने रचना के स्तर पर जिन भाषाओं को प्रयोग किया है वे डिंगल और पिंगल भाषाएँ हैं, ये भाषाएँ लोकजीवन से जुड़ी हुई भाषाएँ हैं। लोक से जुड़े हुए शब्दों लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा सजीव और जीवंत हो

गई है। शैली का जुड़ाव रचनावस्तु से होता हैं। रचनावस्तु को प्रभावी बनाने के लिए वह जिस प्रणाली को अपनाता है उसे ही 'शैली' कहते हैं। चारण साहित्य का अपना एक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व हैं।

पृथ्वीराज रासो की काव्य शैली

चंदबरदाई एक प्रतिष्ठित कवि थे। साहित्यिक भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। उन्होंने पहले से चली आ रही काव्य परम्परा को एक ऊँचाई प्रदान की। कवि में भावों के अनुरूप भाषा को मोड़ने की अद्‌भुत क्षमता है। भावानुकूलता और तीव्र सौंदर्यात्मकता चंद की भाषा की प्रमुख विशेषता है।

(1) छंद–इसके चंदबरदाई बादशाह माने जाते थे। जैसे-जैसे भाव बदलते जाते हैं वैसे-वैसे कवि दंग की राह बदलता चलता है और आरोह-अवरोध के साथ भाषा संगीतमय लय में गुनगुनाती हुई ठुमकती चलती है। उन्होंने अपने समय में प्रचलित अधिकांश छंदों का प्रयोग किया है। सर्वाधिक मन लगता है छप्पयों में। चंद मार्मिक चित्रण छप्पयों में करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अन्य छंदों में मार्मिक उक्तियाँ नहीं कहते। गाथा का उपयोग वे प्रायः कथा को आगे बढ़ाने के लिए करते हैं जो उनकी प्रतिभा को परिलक्षित करती है।

(2) अनुनासिकता–इसके प्रयोग से कवि झंकार पैदा करता है। चाहे शृंगार हो या वीर या अनुनासिक झंकार रासो में अबाध गति से सुनाई पड़ती है। झंकार-स्थिति को ध्वनित करके गुंजा देता है। यह प्रवृत्ति तुलसीदास में भी मिलती है। द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग प्रधानतः युद्ध वर्णन में और सामान्यतः सभी जगह मिलता है।

(3) ध्वनि प्रवाह–प्राकृत-अपभ्रंश की काव्य परम्परा में चंद की ध्वनि-प्रवाह अद्वितीय है। ध्वनि-प्रवाह अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभु में चंद से कम नहीं किंतु चंद का काव्य-प्रवाह द्वित्व एवं अनुस्वार के साथ गूंजता हुआ है। चंद चाहे देवी देवताओं की स्तुति करें, युद्ध का वर्णन या नारी-शरीर का सौंदर्य या विनोद-यह अनुस्वार द्वित्व सहित प्रवाह सभी जगह दृष्टिगत होता है। वे वर्णानुप्रास के भी सिद्ध कवि हैं। उनके भाव नाद-प्रवाह में बदल जाते हैं-जिसे हमारे साहित्य शास्त्रियों ने शब्दार्थ का सहितत्त्व कहा है। काव्य के प्रारंभिक अंश में सरस्वती वंदना में स्वर व्यंजनों की मैत्री से पैदा ध्वनि की आवर्तें चंद की काव्य शैली के प्रमुख उदाहरण हैं।

आल्हा का संकलन व प्रकाशन

फर्रुखाबाद में 1865 ई. में वहाँ के तत्कालीन कलेक्टर सर चार्ल्स इलियट ने कई भाटों की मदद से इसे लिखवाया था। सर जार्ज ग्रियर्सन ने बिहार में (इण्डियन) एण्टीक्वेरी, भाग 14, पृष्ठ 209, 225 और विसेंट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड में लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, भाग 9, 1, पृष्ठ 502 में भी आल्हखण्ड के कुछ भागों का संग्रह किया था। इलियट के निवेदन पर डब्ल्यू वाटरफील्ड ने उनके द्वारा संग्रहीत आल्हखण्ड का अंग्रेजी अनुवाद किया था, जिसका सम्पादन ग्रियर्सन ने 1923 ई. में किया। वाटरफील्ड कृत अनुवाद ''दि नाइन लाख चेन'' अथवा ''दि मेरी फ्यूड'' के नाम से कलकत्ता-रिव्यू में सन् 1875-76 ई. में प्रकाशित हुआ था। इस रचना के आल्हखण्ड नाम से ऐसा लगता है कि आल्हा संबंधित ये वीरगीत जगनिककृत उस विशद् काव्य के एक खण्ड के अन्तर्गत थे जो चन्देलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया था।

विद्यापति पदावली में भक्ति और श्रृंगार का स्वरूप

विद्यापति मूलरूप से श्रृंगार रस के कवि हैं। श्रृंगार रस के स्थायी भाव रति को उद्दीप्त करने वाले तत्त्व यौवन और सुंदरता हैं। सुंदरता में आकर्षण होता है वही प्रेम को जन्म देता है। यौवन में प्रेम का संचार होता है। इस तरह सौंदर्य यदि प्रेम का स्रोत है तो यौवन प्रेम का आश्रय है। श्रृंगार रस का विषय ही यौवन और विलास है। भारतीय काव्य-परम्परा में स्त्री के सौंदर्य को वरीयता दी गई है। संस्कृत के कवियों से चली आ रही इस परम्परा को हिन्दी के कवियों ने अपनाया। विद्यापति ने भी इसे अपनाया। उन्होंने गीतकार जयदेव का अनुसरण करते हुए अपनी पदावली की रचना की। विद्यापति ने संस्कृत तथा अपभ्रंश के ग्रंथों को भी खुद की रचनाओं का आधार बनाया, जिनमें गाथा सप्तशती, अमरुक शतक, श्रृंगार शतक, श्रृंगार तिलक आदि प्रमुख हैं। ये भी रचनाएँ श्रृंगार रस से ओत-प्रोत हैं। रीति को उद्दीप्त करने वाली कामिनी आलंबन रूप होती है। उसके अंगों का सौंदर्य भी श्रृंगार की अभिव्यक्ति में मददगार होता है। विद्यापति ने श्रृंगार की दोनों अवस्थाओं-संयोग और वियोग का चित्रण किया है। उन्होंने नायिका के अंगों का नख से शिख तक विश्लेषण किया है। यदि हम इसे हिन्दी में नख-शिख वर्णन का आरंभ कहें तो अनुचित न होगा। अब देखिए नायिका (राधा) के सौंदर्य का एक चित्र–

चांद सार लए मुख घटना करू लोचन चकित चकोर।
अमिय धोए आचुरे धनि पौछल देह दशि भेल उजोर।

नायिका का मुख चंद्र का सार लेकर गढ़ा गया है। उसके लोचनों को देखकर हतप्रभ रह गये। जब उसने अपने मुख को अमृत से धोकर आंचल से पोंछा तब दसों दिशाओं में प्रकाश फैल गया।

नयनों को हृदय की निधियों को लुटाने वाला कहा गया है। सुंदरी के नयनों की चितवन में अनुपम शक्ति होती है। बड़े-बड़े ऋषियों का स्थिर मन उनकी चितवन से चंचल हो उठा। अस्त्र तो प्रत्यक्ष आघात करते हैं, जीवन हर सकते हैं, किंतु सुंदरी के कटाक्ष तो विकल बना देते हैं। कवियों ने इनके लिए कई उपमान चुने हैं। विद्यापति की कल्पना देखिए–

तित बनाने मदन जितल तिन भुवने, अवधि रहल दउ बाने।
विधि बढ़ि दारून बधित रसिक जन सोंपल तोहारि नयाने।

कामदेव ने अपने पाँच बाणों में से तीन बाणों से तीनों लोक जीत लिए। शेष बचे दो बाण नायिका (राधा) को सौंप दिये जिनसे रसिक व्यक्ति कैसे बच सकते हैं। राधा तो आधी चितवन से कृष्ण को अपने वश में कर लेती है।

बड़ कौशल तुअ राधे, किनल कन्हाई लोचन आये।

नायिका की स्मिति तो और भी आकर्षक होती है। विद्यापति की नायिका की मुस्कान तो बहती हुई ज्योति है–

हास बिलासिनी दसन देखि जानि तरनित जोती।

नायिका की दंत-पंक्ति मोती की तरह है। गुलाब की पंखुड़ियों की तरह अधरों के मध्य दंत-पंक्ति अनुपम आभा प्रकट करती है–

दंत मुकुता पांति अधर मिलायत, मृदु मृदु कहतहि भासा।

नायिका के हाव-भाव तो सहृदय को बलात् अपनी तरफ खींच लेती हैं। नायिका की मंद मुस्कान, तिरछी, चितवन, कटीली भौहें, लज्जा भरे कटाक्ष में कितना आकर्षण है–

मंद हासै बंकिम कए दर सए चंगिम भंउह विभंगै।
लाजै वे आकुलि सामुन हेरए आउल नयन तरंगै।

नायिका के सुंदर आनन पर सिंदूर की बिन्दी और लहराते काले केश तो उसकी सुंदरता को और भी बढ़ाने वाले हैं। विद्यापति की नायिका के मुख पर कुंकुम-बिंदु और केश सूर्य और चंद्रमा को एक साथ उदित होकर अंधकार को पीछे ढकेल देते हैं–

सुंदर बदन सिंदूर बिन्दु सामर चिकुर भांवर।
जनि रवि ससि उगल पघुकए अंधकार।

नारी के उरोज, नितम्ब, त्रिबली, नाभि, शरीर के अन्य सब अंगों से अधिक आकर्षक होते हैं। श्रृंगार कवियों ने अपने काव्य में श्रृंगार-साधना का मूल साधन इन्हीं अंगों को माना है। नेत्रों में आकर्षण होता है पर उससे ज्यादा नायिका के उरोजों में आकर्षण होता है। उरोज मांसल सौंदर्य के प्रतीक हैं। उरोजों में आकर्षण होता है। उरोजों का अंकुरित होना यौवनावस्था में आरंभ होता है एवं उरोजों का कठोर विकास तरूणाई लाने वाला होता है। विद्यापति उरोजों को कामदेव की सुषमा का भंडार मानते हैं–

पीन पयोधर भार। मदन राय भंडार।

कृशांगी राधा के उरोजों को देखकर विद्यापति उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर कृष्ण की दुहाई देने लगते हैं। उसके कमजोर शरीर पर उरोज ऐसे हैं जैसे कनकलता पर सुमेरू पर्वत उग आया हो–

पीन पयोधर दूबरि गाता। मेरू उपजल कनकलता।
ए कान्हु ए कान्हु तोरि दोहाई। अति अपरूप देखल राइ।

नायिका के उरोजों का रंग अत्यंत गौरा है–

रंग पयोधर अति भेल गौर। माजि धरल जनि कनक कठोर।

नायिका के उरोज स्पर्श मात्र से लाल हो गये हैं। ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे कनकलता पर लाल कमल की कलियाँ खिली हों।

गौर शरीर पयोधर कोरी परसे अरून भेल।
कनक कलरि जनि रलौपले मुकुले उदय देल।

नायिका के उरोजों का आकार ऐसा है जैसे सोने का श्रीफल बनाकर उसके दो भागों को वक्षस्थल पर लगा दिया गया हो।

हाटक घटन सिरीफल सुंदर कुच जुग कुटि करू आधे

गौरवर्ण के पेट पर रोमावलि नाभि से रेंगती हुई उरोजों तक जाती है और कूचों में जाकर लुप्त हो जाती है। विद्यापति कल्पना करते हैं–मानो त्रिवली रूपी सर्पिणी नाभि विवर से निकल कर जाती हुई नाक रूपी गरूड़ के भय से उरोज-शिखरों के बीच छुप गई हो–

नाभि विवर सेयं लोभ लतावलि भुजगि विश्वास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम भये कुचगिरि-संधि निवासा।

भारी नितम्ब और पतली कटि नारी में और भी रमणीयता और सौंदर्य बढ़ा देते हैं। नायिका की कटि अत्यंत क्षीण है। कटि टूट जाने के संदेह से कामदेव

ने त्रिवली तला से उसे बाँधकर बचा लिया है। नायिका के नितम्ब अत्यंत बोझिल हैं, बीच में कोटि अत्यंत क्षीण होने के कारण वह चल भी नहीं पा रही है–

गुरु नितम्ब भरे चलए न पारइए माझ चीनिभ निभाई।
मागि जाइति मनसिज धरि राखलि, त्रिवलीलता अरुझाई।

प्राकृतिक उपमानों के द्वारा नारी के रूप का चित्रण करने में विद्यापति बहुत माहिर थे। राधा के यौवन एवं रूप का यह सुंदर चित्र देखिए।

जित देखत तत कहए न पारिअ, छओ अनुपम एक ठामा।
हरिन इन्दु अरबिन्द करनि हेम, पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तन रुचि अओ अति सुलचित बानी।
कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल, ता अरुझाइल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल, चांद बिहिनु सब तारा।
लोक कपोल ललित मनि कुंडल, अधर बिम्ब अधजाई।
भौंह भ्रमर नासापुट सुंदर से देसि कीर लजाई।

विद्यापति ने नायिका को अंगों की सुंदरता, सुकुमारता, वेश–भूषा आदि का वर्णन करने में तो सिद्धहस्तता प्राप्त की ही है, हाव–भाव प्रदर्शन में भी अपूर्व कुशलता प्राप्त है। नायक को देखती हुई नायिका के वक्ष का कपड़ा हट जाता है, वह तुरंत अपने उरोजों को हाथ से छुपाती है, कनखियों से देखती हुई, लाज से थोड़ा मुस्कराते हुए सिर नीचा कर लेती है।

आध आंचर खसि आध बदन हसि आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आंचरि भरि तब दगधे अनंग।

सद्य:स्नाता रमणी का सुंदर चित्रण पढ़ते ही रोमांच हो आता है–

कामिनी करए सनाने।
हेरि ताहि हृदय हनए पंचबाने।
चिकुर गरए जलधारा। जनि मुख–ससि डरै रौअए अंधरा।
कुच जुग चारु चकेवा। निऊ कुल मिलित आनि कौन देवा।
ते अन्काए भुज पासे। बांचि कमल उड़ि जायत अकासे।
तितल बसन तनु लागू। मुनिहुक मानस मनमथ जागू।

सद्य:स्नाता सुंदरी नायक को देखते हुए उसके हृदय पर कामदेव के पाँचों बाणों से प्रहार कर रही है। लज्जा के कारण वह अपने भीगे वस्त्रों से झाँकने वाले उरोजों को हाथ से बाँधे हुए है मानो वे चकवे हों और उनके उड़ने के भय से वह उन्हें पकड़े हुए हो। भीगे वस्त्रों के अंगों से चिपट जाने से उसका यौवन स्पष्ट

झलक रहा है जिसको देखकर मुनियों के मन में भी काम का संचार हो उठता है।

विद्यापति के काव्य में राधा-कृष्ण की प्रेम-विभोरता का चित्र

विद्यापति ने राधा-कृष्ण की प्रेम-विभोरता का चित्र प्रस्तुत किया है। मार्ग में अचानक ही दोनों का मिलन हुआ। कामदेव ने अवसर पाकर दोनों के हृदय को अपने बाणों से बींध दिया। दोनों एक-दूसरे की ओर देखकर प्रेमविभोर हो उठे तथा अनाड़ी चोर की तरह उन्हें मौके-बे-मौके का तनिक भी ध्यान न रहा।

अविरल नयन गरए जल धार।
नवजल बिन्दु सहए के पार।
कि कहब सजनी ताकर कहिनी।
कहए न पारिअ देखलि जहिनी।

कहने का आशय यह है कि महाकवि विद्यापति ने संयोग शृंगार के एक-से-एक सुंदर चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्राचीनकाल से ही शृंगार के संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष को ज्यादा महत्त्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि इसी अवस्था में मनुष्य मलिनता के धरातल से धीरे-धीरे उठकर अपने शुद्ध प्रेम की अभिव्यक्ति करता है। साहित्य-मनीषियों में से कुछ के द्वारा विद्यापति को केवल बाह्य जगत् का चितेरा ही माना गया है, वहाँ कुछ आलोचक मानते हैं कि यदि विद्यापति संयोगशृंगार के निपुण कवि हैं, पर वे वियोग-वर्णन में और भी अधिक बढ़े-चढ़े हैं। विद्यापति के वियोग-वर्णन में राधा की हृदय-द्रावक निराशा तथा प्रियतम के निर्मोह आदि के हृदय-द्रावक दृश्यों की कमी नहीं है। इतना ही नहीं, विद्यापति के विरह-संबंधी पदों में अनेक पद ऐसे हैं जो कवि की मौलिक सूझ-बूझ का परिचय देते हैं।

साहित्य मनीषियों ने विरह की चार दशाएँ बतलाती हैं—पूर्वराग, मान, करुण और प्रवास। पूर्वराग की अवस्था में प्रिय के दर्शनों की लालसा होती है और होती है—प्रिय की आकुल प्रतीक्षा। विद्यापति ने कृष्ण और राधा दोनों के पूर्वराग का अंकन किया है।

मान की गणना संयोग के अंतर्गत की जाती है, क्योंकि इसमें कायिक वियोग नहीं होता। पास होते हुए भी दूरस्थ भावनाओं का अनुभव होता है। विद्यापति ने मान-प्रसंग के अंतर्गत इसकी योजना की है। संयोग-वर्णन के इस मान-संबंधी विरह में कवि को आशातीत सफलता नहीं मिलती है।

वस्तुतः वियोग की सर्वाधिक तीव्रानुभूति प्रवास-विप्रलम्भ में हुआ करती है। प्रिय के परदेश जाने पर जिस दुःख की अनुभूति होती है वह अकथनीय है, क्योंकि सुख के पश्चात् दुःख अथवा संयोग के पश्चात् वियोग की अनुभूति द्विगुणित हो जाया करती है। इस अवस्था में शरीर और मन दोनों ही दुर्बल पड़ जाते हैं। विरह-वर्णन में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की पीड़ा की अनुभूति होती है। विद्यापति ने दोनों तरह के भावों का चित्रण अपने काव्य में किया है। प्रियतम के चले जाने पर नायिका कितनी दुःखी है, उसके मन में कैसी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, इसका चित्रण आगे की पंक्तियों में स्पष्ट है–

सखि हे हमर दुखक नहिं ओर।
ई बादर माह भादर सून मंदिर मोर।
झंपि घन गरजंति संतत भुवन कर संतिया।
कंत पाहुन काम दारून सघन खर सर हंतिया।
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया।
मत्त दादुर डाक डाहक
फाटि जाइत छातिया।
तिमिर धिरि भरि छोर यामिनि
अथिर बिजुरिक पातिया।
विद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिना दिन रतिया।

विद्यापति के शृंगार वर्णन की विशेषताएँ

शृंगारिक रूप से जिन पदों का उल्लेख किया जाता है उनमें नख-शिख-वर्णन, मिलन के प्रसंग, राधा और कृष्ण की लीला आदि का चित्रण किया गया है। सबसे पहले उनके सौन्दर्य वर्णन को विवेचित किया जा सकता है जिसमें उन्होंने राधा के माध्यम से सौन्दर्य की अनुभूति को व्यंजित किया है। विद्यापति का यह वर्णन नया नहीं है। उनके पूर्व जयदेव और प्राकृत अपभ्रंश के कवियों ने राधा और कृष्ण के इसी सौन्दर्य का चित्रण शृंगारिक आधार पर ही किया था उसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए विद्यापति ने शृंगारमय भक्ति को विस्तार दिया है।

नख-शिख वर्णन–विद्यापति की राधा सर्वप्रथम बालिका के रूप में कृष्ण को दिखाई देती है। उसके अपूर्व सौन्दर्य को देखकर कृष्ण चकित रह गये। राधा में भी अपूर्व परिवर्तन लच्छित हुआ है। कवि कहता है–

शैशव यौवन दुहु मिलि गेल, स्त्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।
निरजन उरज हेरइ कत बेर, हंसई जो अपना पयोधर हेर।

इसी समय चंचल पवन के झकोरे से राधा का वस्त्र गिर गया और अचानक राधा की देह लेता दिखलाई पड़ी। केशों से घिरी उज्ज्वल काया को देखकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे काले बादलों के मध्य बिजली–

शसन पासु खातु अम्बर रे, देखल धनि देह।
नव जलधर दन संचर रे, जनि बिजुरि देह।

उस समय कृष्ण का मन प्रेम के रंग में डूब गया, उन्हें लगा कि कोई सोने की लता पृथ्वी पर विचरण कर रही है–

कनक लता जनि संचर रे महि निरअवलम्ब।

राधा का यह सौन्दर्य नित्य नवीन है। वस्तुतः सौन्दर्य का चित्रण वही कवि कर सकता है जो इन नवीनता को समझ सके। वह मधुर रस की देवी है। राधा के माधुर्य को देखकर कृष्ण मुग्ध हो गये और कह पड़े–

गेलि कामिनि जगहु गामिनि, विहँसि पलटि निहारि।
इन्द्रजाल कुसुम सायक कुहुकि भेलि वर नारि।

जिस तरह कृष्ण राधा के सौन्दर्य को देखकर प्रभावित हुए उसी तरह राधा भी। वह अपनी सखी से कहती है–

''ऐ सखि पेखलि एक अपरूप, सुनइति मानव सपन सरूप।''

राधा और कृष्ण के उस मिलन के बाद विरह की स्थिति शुरू होती है। विद्यापति की राधा ग्रामीण गृहस्थ कन्या की तरह पारिवारिक मर्यादा का पालन करती है और भगवान से प्रार्थना करती है कि उसकी लज्जा की रक्षा करें। वह कहती है–

''कि कहब हे सखि इह दुख ओर, बाँसि निसास गाल तनु मोर।''

विरह की इस स्थिति के बाद दूतियों का आना-जाना शुरू होता है। इस प्रारम्भिक नख-शिख वर्णन के साथ विद्यापति ने उपमानों के माध्यम से नायिका के सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन किया है। यह सौन्दर्य अलौकिक है उनके अनेक पदों में अपूर्व रूप का चित्रण किया गया है जैसे–

सुधामुखि के विहि निरमल बाला।
अपरूप रूप मनोमय मंगल त्रिभुवन विजयी माला।
माधव कि कहब सुन्दर रूपे
सजनी अपरूप पेखल रामा

विद्यापति के उपभाग प्रकृति से ही लिए गए हैं और इसमें उन्होंने रीतिकालीन कवियों की भाँति चमत्कार प्रदर्शन न करके नायिका के सहज सौन्दर्य को दर्शाया है। कहीं-कहीं तो लोकभाषा के माध्यम से बिना उपमान के ही उन्होंने सहजात का वर्णन कर दिया है जो तमाम उपमानों से ज्यादा आकर्षक है जैसे–

सहजहिं आनत सुन्दर रे,
भौंह सरेखलि आँखि।

इसके बाद भी विद्यापति ने परम्परा नख-शिख वर्णन के आधार पर भी नायिका के सौन्दर्य को चित्रित किया है। वयः सन्धि और सद्यः स्नाता के वर्णन उनके काव्य में काफी आकर्षक हैं। इस दृष्टि से उनके नख-शिख वर्णन के कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं–

देहद्युति–जनि विजुरि रहे,
कनकलता अवलम्बन उवल।
केश–चिकुल गरये जलधारा,
जनि मुख ससि गर रोअए अँधारा।
आँख–नीर निरंजन लोचन राता,
सिंदूर मंडित जन पंकज पाता।

रतन–विद्यापति ने सबसे ज्यादा उपमान उरोजों की प्रशंसा में ही दिए हैं। कुछ वर्णन में वे बेजोड़ हैं और उनके अनेक गीतों में कुचों का ही वर्णन किया गया है जैसे–

1. जुगल शैल या हिमकर देखल,
2. कुच जुग चारि चकेवा,
3. पीनि पयोधरि दूबरि गता,
4. मेरू उपजल कनकलता।

नाभि– (1) लिविलि लता अरूझाई।
(2) नाभि विवर सम लोम लतावलि।

कटि–कनक-कदल सर सिंह समारलि।
जंघा–विपरीत कनक कदलि सर शोभित।
थल पंकज के रूप रे।
चरण–चरन जावत-हृदय पावत।

इस प्रकार नख-शिख वर्णन में विद्यापति अद्वितीय हैं। दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार विद्यापति की राधा सौन्दर्य समूह के चित्रपटी है।

संयोग–नायक और नायिका के मिलन के प्रसंग भी विद्यापति के काव्य में शृंगार के आरोप की पुष्टि करते हैं। विद्यापति ने नायक और नायिका के मिलन का मनोहारी व आकर्षक वर्णन किया है। मिलन के अनुभवों के वर्णन में विद्यापति ने मार्मिक अनुभूतियों का चित्रण अत्यन्त मृदु एवं सहज रूप में किया है। राधा अपनी सखियों से कहती हैं–

हँसि-हँसि पहु आलिंगन देल,
मनमथ अंकुर कुसमित भेल।
जब निबि बंध रकसाउल कान,
तोहर शपथ हम नहिं किछु जान।

मिलन के प्रसंग में विद्यापति की राधा-कृष्ण को गंवार तक बताती है और कहती है–

तिन्ह सों कहाँ पिरित रसाल
बानर कंठ की मोतिय माल।

मिलन के प्रसंग में कवि ने प्रथम समागम अभिसार, प्रेम क्रीड़ा और प्रणय के विभिन्न व्यापारों का सजीव वर्णन किया है। यद्यपि इस प्रकार वर्णनों में कहीं-कहीं अश्लीलता के आरोप भी लगते हैं, लेकिन समग्र रूप से विद्यापति का यह शृंगार वर्णन उनकी शृंगार रस सम्बन्धी समग्रता का ही द्योतक है, जैसा कि डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने कहा है–उल्लास का यह वातावरण मांसल सौन्दर्य के उपभोग का यह इन्द्रिय व्यापार दैहिक स्पर्श-सुख के तरलाइत प्रसंग, केवल इन्द्रिय लिप्सा के परिचायक हो जाते यदि इनके अन्त में विरहोत्पल आकस्मिक विश्लेषण मु:ख की इतनी बड़ी अतीन्द्रिय पीड़ा को जगाने में समर्थ न होता।

विरह–विरह के चित्रण में विद्यापति बेजोड़ हैं। उनका विरह वर्णन सूर की तरह केवल रोने-कलपने तक सीमित नहीं है। उन्होंने विरह में भी स्मृतियों के माध्यम से मिलन के दृश्यों का चित्रांकन किया है। कृष्ण मथुरा चले गये और

एक पूरा दिन बीत गया, उस समय राधा की मन स्थिति अवलोकनीय है क्योंकि उसे कृष्ण का एक दिन का भी वियोग सहन नहीं था। वह कहती है–

काकिल अवध करिय पिय गेल,
लिखइते कालि भीति भरि गेल।
भेल प्रभात कहत सबहि,
कह-कह सहनि कालि कवहिं।

विरह में मार्मिकता लोकगीतों के धुन के कारण अधिक आ गयी है। राधा कहती है कि कृष्ण नहीं गये। गोकुल रूपी चकोर का चन्द्रमा चोरी हो गया–

गोकुल चाँद चकोरल रे, चोरि गएल चन्दा।

लोकगीतों के प्रभाव के कुछ अन्य उदाहरण निम्न प्रकार हैं–

1. सखि मोर पिया, अबहूँ न आवल कुलिस हिया।
2. मधुपर मोहन गेल रे, मोरा विदरत छाती।

विरह वर्णन में विद्यापति ने बारहमासा का वर्णन लोकगीतों के प्रभाव से ही किया है। प्रकृति विरह-वर्णन में नायिका की सहचरी बनकर आयी है। बारह-महीनों में नायिका की विभिन्न स्थितियों का चित्रण कवि ने विरह-वर्णन के तहत किया है। वर्षा में तो यह असहाय हो जाता है। बादलों से भरा हुआ भादों का महीना विरहिणी की दु:ख की सीमा तोड़ देता है–

सखि हे, हमर दुखक नहिं ओर,
ईभर बादर माह, भादर सून मन्दिर मोर।

इसी तरह वह कहती है–

सावन मासि बरसि घन वारि,
पथ न सूझै निसि अंधियारी।
चौदिस देखि बिजुरि रेह,
हे सखि कामिनि जीवन सन्देह।

विद्यापति के विरह वर्णन में मान और प्रवास के साथ पूर्वराग की भी झलक देखने को मिलती है। यह विरह वर्णन प्रकृति के साहचर्य ये अत्यधिक मार्मिक हो गया है। विरहिणी कहती है कि कृष्ण से जो परकीया प्रेम किया था, उसके कारण नायिका अपने प्रेम को प्रकट भी नहीं कर पाती। राधा कहती है कि मैं कृष्ण के प्रेम में पड़कर अपनी कुल मर्यादा को छोड़ बैठी और कृष्ण प्रेम का पौधा लगाकर चले गए। अब इस प्रेम को न वह प्रकट कर पाती है और न तो वियोग को सहन कर पा रही है।

कुल कामिनि छलौं कुलटा भए, गेक्ति तिनकर बचन लुमाई।
अपने कर हम मूड़ मुड़ाएल, कान से प्रेम बढ़ाई।
चोर रमनि जनि मन-मन रोवै, अम्बर बदन छिपाई।

आदिकालीन साहित्यिक रचनाओं की विशेषताएँ

युद्धों का सजीव चित्रण

आदिकाल के हिंदी साहित्य में युद्धों का ऐसा सजीव, चित्रात्मक, एवं ध्वन्यात्मक वर्णन हुआ है कि उन रासो-ग्रंथों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो तलवारें खड़क रही हों।

वीर रस तथा उत्साह की प्रधानता

आदिकालीन साहित्य में उत्साह जन्य वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है जैसे युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए क्षत्रिय वीरों को इस प्रकार उत्साहित किया जाता है कि क्षत्रियों का सार्थक जीवन प्रकट हो उठता है।

प्रकृति चित्रण

प्रकृति के विभिन्न उपादानों यथा पर्वतों, नदियों, वृक्षों, सरोवरों, पशु-पक्षियों, मेघ एवं बिजली आदि का चित्रण एवं वर्णन बहुत ही मार्मिक ढंग से मिलता है। साधारण लोगों के जीवन चित्रण का अभाव भी आदिकालीन साहित्य की विशेषता है।

डिंगल तथा पिंगल भाषा की प्रधानता ही आदिकालीन साहित्य की भाषागत विशेषता है। वैसे देशी भाषा अवहट्ट तथा शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रयोग मिलता है।

ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव

आदिकालीन साहित्य में भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं, तिथियों तथा पात्रों की नामावली प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती।

संकुचित राष्ट्रीयता

आदिकालीन साहित्य में सार्वभौम राष्ट्रीयता का अभाव है क्योंकि छोटे-छोटे राजा अपने ही क्षेत्र को राष्ट्र मान बैठे थे। हिंदी के आदिकाल में

साहित्यिक रचनाएँ तीन धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रही थीं। प्रथम धारा संस्कृत साहित्य की थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिंदी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। ज्योतिष दर्शन और स्मृति आदि विषयों पर टीकाएँ और टीकाओं पर भी टीकाएँ लिखी जाती थीं। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत साहित्य रचना के केन्द्र रहे और इसी बीच अनेक आचार्य, कवि, नाट्यकार तथा गद्यकार उत्पन्न हुए। आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर विश्वंभर भवभूति व जयदेव इसी युग की देन हैं। इसी समय शंकर, भास्कर, रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश का श्रेष्ठ साहित्य भी प्रभूत मात्रा में इसी युग में लिखा गया। जैन आचार्यों तथा पूर्वी सीमान्त पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोकभाषा को रचनाओं में प्रयुक्त किया। इस काल में बज्रयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथों, जैन धर्म के अनुयायी विरक्त मुनियों एवं गृहस्थ उपासकों और वीरता एवं श्रृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि रचनाएँ विशेष रूप से रची गईं।

2

भक्ति काल में हिन्दी साहित्य का विकास

भक्ति काल अपना एक अहम और महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि संवत् 1343ई से संवत् 1643ई तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य (साहित्यिक दो प्रकार के हैं- धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य) का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इसी युग में प्राप्त होती हैं।

दक्षिण में आलवार बंधु नाम से कई प्रख्यात भक्त हुए हैं। इनमें से कई तथाकथित नीची जातियों के भी थे। वे बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे, परंतु अनुभवी थे। आलवारों के पश्चात दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे। रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्त्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया:

जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।।

रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। रामानंद ने और उनकी शिष्य-मंडली ने दक्षिण की भक्तिगंगा का उत्तर में प्रवाह किया। समस्त

उत्तर-भारत इस पुण्य-प्रवाह में बहने लगा। भारत भर में उस समय पहुंचे हुए संत और महात्मा भक्तों का आविर्भाव हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की और विष्णु के कृष्णावतार की उपासना करने का प्रचार किया। उनके द्वारा जिस लीला-गान का उपदेश हुआ उसने देशभर को प्रभावित किया। अष्टछाप के सुप्रसिध्द कवियों ने उनके उपदेशों को मधुर कविता में प्रतिबिंबित किया।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला जिसमें प्रमुख व्यक्तित्त्व संत कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएं लिखी गईं।

भक्तिकालीन हिंदी साहित्य की चार काव्यधाराएँ

भक्तिकालीन काव्य की विविध रूपों में प्रगति हुई। इस काल की चार काव्य-धाराओं ने एक साथ हिंदी साहित्य की वृद्धि कर डाली। चार काव्यधाराएँ निम्नलिखित हैं–

1. संत काव्यधारा
2. प्रेम काव्यधारा
3. कृष्ण काव्यधारा
4. राम काव्यधारा

1. संत काव्य धारा–सन्त काव्यधारा के प्रमुख कवि कबीर हैं। इनके अलावा दादूदयाल, नानक, सुन्दरदास आदि सन्तों का नाम उल्लेखनीय है। कबीर आदि संतों के साहित्य में रहस्यवाद, भक्ति, खण्डन-मण्डन एवं सुधार की भावनाएँ हैं। काव्यत्व की दृष्टि से भी इनके काव्य में शब्दगत, अर्थगत एवं रसगत रमणीयता विद्यमान है। कबीर ने 'साखी', 'शब्द', 'रमैनी' की रचना की है, जो 'बीजक' कृति में विद्यमान है। गुरु की महिमा का सुन्दर चित्रण माया की व्यर्थता का चित्रण, संसार की असारता का चित्रण तथा मानवतावादी चिन्तन संत काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

2. प्रेम काव्यधारा–मुसलमान सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव

के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएं लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएं फारसी की मसनवियों की शैली पर रची गईं हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएं लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्राय: प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं-मंझन, कुतुबन और उसमान।

3. कृष्ण काव्यधारा—इस गुण की इस शाखा का सर्वाधिक प्रचार हुआ है। विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के अंतर्गत अष्टछाप के सूरदास कुम्भनदास रसखान जैसे महान कवि हुए हैं। वात्सल्य एवं शृंगार के सर्वोत्तम भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्राय: मुक्तक काव्य ही लिखा है। भगवान श्रीकृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का ही प्राधान्य रहा है। प्राय: सब कवि गायक थे इसलिए कविता और संगीत का अद्भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। गीति-काव्य की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति द्वारा पल्लवित हुई थी उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। नर-नारी की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रसाप्लावित कर दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड़ गई। इस शाखा के प्रमुख कवि थे सूरदास, नंददास, मीरा बाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास वगैरह। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण-काव्य-धारा की विशेषताएँ—कृष्ण-काव्य-धारा के मुख्य प्रवर्तक हैं- श्री वल्लभाचार्य। उन्होंने निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर श्रीकृष्ण का प्रचार किया। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रचार-प्रसार किया। जिसका अर्थ है- भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति करना।

कृष्ण-काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. श्रीकृष्ण-साहित्य का मुख्य विषय कृष्ण की लीलाओं का गान करना है। वल्लभाचार्य के सिद्धांतों से प्रभावित होकर इस शाखा के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही अधिक वर्णन किया है। सूरदास इसमें प्रमुख है।
2. इस शाखा में वात्सल्य एवं माधुर्य भाव का ही प्राधान्य है। वात्सल्य भाव के अंतर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं, चेष्टाओं तथा माँ यशोदा के हृदय की झाँकी मिलती है। माधुर्य भाव के अंतर्गत गोपी-लीला मुख्य है। सूरदास के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- वात्सल्य के क्षेत्र में जितना अधिक उद्‌घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, इतना किसी ओर कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का तो वे कोना-कोना झाँक आये।
3. इस धारा के कवियों ने भगवान कृष्ण की उपासना माधुर्य एवं सख्य भाव से की है। इसीलिए इसमें मर्यादा का चित्रण नहीं मिलता।
4. श्रीकृष्ण काव्य में मुक्त रचनाएँ ही अधिक पाई जाती हैं। काव्य-रचना के अधिकांशत: उन्होंने पद ही चुने हैं।
5. इस काव्य में गीति-काव्य की मनोहारिणी छटा है। इसका कारण है- कृष्ण-काय की संगीतात्मक्ता। कृष्ण-काव्य में राग-रागिनियों का सुंदर उपयोग हुआ है।
6. श्रीकृष्ण काव्य में विषय की एकता होने के कारण भावों में अधिकतर एकरूपता पाई जाती है।
7. श्रीकृष्ण को भगवान मानकर पदों की विनयावली द्वारा पूजा जाने के कारण इसमें भावुकता की तीव्रता अधिक पाई जाती है।
8. इस काव्य-धारा में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया गया है।
9. कृष्ण-काव्य-धारा की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली का प्रयोग इसमें हुआ है। यह मधुर और सरस है।
10. इस काव्य में रसमयी उक्तियों के लिए तथा साकार ईश्वर के प्रतिपादन के लिए भ्रमरगीत लिखने की परंपरा प्राप्त होती है।
11. श्रीकृष्ण-काव्य स्वतंत्र प्रेम-प्रधान काव्य है। इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति को अपनाया है। इसलिए इसमें मर्यादा की अवहेलना की गई है।

12. कृष्ण-काव्य व्यंग्यात्मक है। इसमें उपालंभ की प्रधानता है। सूर का भ्रमरगीत इसका सुंदर उदाहरण है।
13. श्रीकृष्ण काव्य में लोक-जीवन के प्रति उपेक्षा की भावना पाई जाती है। इसका मुख्य कारण है- कृष्ण के लोकरंजक रूप की प्रधानता।
14. श्री कृष्ण-काव्य-धारा में ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गईं है। इसमें आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्म-समर्पण का महत्व है।
15. प्रकृति-वर्णन भी इस धारा में मिलता है। ग्राम्य-प्रकृति के सुंदर चित्र इसमें हैं।

4. राम काव्यधारा–कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला-पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा। इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और 'रामचरित मानस' द्वारा राम-कथा को घर-घर में पहुंचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन-समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के समान उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहे हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं।

राम का स्वरूप– रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं।

भक्ति का स्वरूप– इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है– सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय

उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है– भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है, वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है।

लोक-मंगल की भावना– रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है।

समन्वय भावना– तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है। राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांतः सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही।

काव्य शैलियाँ– रामकाव्य में काव्य की प्रायः सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्रायः सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (हृदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है।

रस– रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्रायः सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में शृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा।

भाषा– रामकाव्य में मुख्यतः अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का शृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है।

छंद – रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त, सोरठा, तोमर, त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार– रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है। रामकाव्यधारा की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है–

1. रूप और दूसरा सगुण रूप–भक्तिकालीन राम काव्यधारा के कवियों ने निर्गुण राम की नहीं, वरन्, सगुण राम रूप की अवतारणा अपने काव्यों में की है। उन्होंने राम और रामायण को देशकाल तथा जनजीवन के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत किया है। राम काव्यधारा में ऐसे विराट् राम की प्रतिष्ठा हुई है और भावुक भक्तों तथा कवियों ने राम के इन्हीं रूपों की अर्चना-वंदना की है। रामकथाओं के लिए राम ही सर्वस्व हैं।

2. दार्शनिक चेतना–भक्तिकालीन राम कथाकार दार्शनिक नहीं, वरन् वे कवि थे। राम कथा के विविध पक्षों का रसमय गायन करना उनका उद्देश्य था। वे कोरे ज्ञान को महत्त्व नहीं देते थे। कोरी शिक्षा उनके समीप मिथ्या थी।

3. सामाजिक संवेदना–रामभक्ति काव्य की सामाजिक संवेदना बड़ी गहरी है। सामाजिक दृष्टि से रामभक्ति काव्य की विशेष महिमा है। जिस समय रामभक्ति काव्य का प्रणयन हो रहा था, उस समय समाज अनेक प्रकार की भ्रांति और अशांति का शिकार था और मुगलों के शासन के कारण भारतीय संस्कृति संकट में पड़ी थी। ऐसे विषम समय में रामभक्ति काव्य प्रणेताओं ने भारतीय

समाज को पुनर्गठित तथा भारतीय संस्कृति को पुनर्जाग्रत करने का उपक्रम किया है। रामभक्ति का समग्र प्रयत्न आदर्श समाज और आदर्श परिवार की स्थापना का था जिसके आधार पर उन्होंने समपर्ण और प्रेम को अंगीकार किया है।

4. युगीन समस्याओं का निरूपण–तुलसीदास आदि रामभक्ति काव्य के श्रेष्ठ कवि है और रामोपासना करते हुए भी उन्होंने अपने युग की समस्याओं को अनदेखा नहीं किया है। अनेक युगीन समस्याओं को रामकथा में यथास्थान निरूपित किया गया है। इतना ही नहीं, उस समय का लोक जीवन विपन्न और कारुणिक था, उसका चित्राण भी 'कवितावली' में चित्रित किया गया है। यथा–

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहिन लोग सीघमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों, 'कहाँ जाई, का करी'?
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी॥"

समन्वय की विराट् चेष्टा: भारत, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य संगम का देश है, यहाँ पर संगम की संस्कृति है और संगम का साहित्य है। संगमधर्मिता इसकी प्रधान प्रवृत्ति है। कितनी ही विचारधाराओं के लोग यहाँ आये, बसे। इसी कारण यहाँ समन्वय की विराट् चेष्टा हुई है। यह समन्वय अनेक स्तरों पर दिखाई पड़ता है।

भक्तिकालीन परिवेश

भक्ति काल का उद्भव विशेष परिस्थितियों में हुआ है। भारत मुस्लिम शासन में अनेक विषमताओं से जूझ रहा था। ऐसे में जनमानस को आस्था विश्वास और भक्ति से ही जीने का मार्ग मिलता है। इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ रेखाकंन योग्य हैं।

ऐतिहासिक परिवेश

हिंदी साहित्य का मध्यकाल भारत में मुस्लिम साम्राज्य के क्रमिक उत्थान-पतन का युग है। उस समय का शासक दिल्ली का सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक उत्तर से दक्षिण तक अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था। इसी विचार का लक्ष्य कर उसने दिल्ली की अपेक्षा देवगिरी को अपनी राजधानी

बनाया और उसका नाम दौलताबाद रखा। 1375 से 1700 विक्रमी संवत् तक दास, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी, मुगल आदि वंशों के व्यक्ति दिल्ली की गद्दी पर रहे। जाति और संस्कृति की दृष्टि से ये विदेशी ही बने रहे। भले ही इनमें से अनेक का जन्म भारत में हुआ था। धार्मिक दमन, राज्य विस्तार के लिए निरन्तर युद्ध तथा ऐश्वर्य और विलासिता का जीवन इनकी विशेषताएँ रहीं जिसके परिणामस्वरूप हिंदी धर्म व वैष्णन भक्ति के पुनर्जागरण को बल मिला। अपने धर्म की रक्षा के लिए एक अखिल भारतीय धार्मिक आन्दोलन, जिसे भक्ति आन्दोलन भी कहा जाता है, प्रारम्भ हुआ। भक्ति आन्दोलन के प्रेणेता दार्शनिक, संत, महात्मा और समाज-सुधारक थे जिन्होंने एक ओर इस्लाम की आक्रामकता के विरुद्ध जन-जन को संगठित किया, वहीं दूसरी ओर सद्भाव स्थापित करने का प्रयास भी किया।

सोलहवीं शती के मध्य में बाबर ने मुगल सल्तनत की नींव डाली उसने मेवाड़ के राणा सांगा को पराजित करके राजपूतों के प्रतिरोध को रोक दिया, किन्तु पठानों ने हिम्मत न हारी। पठान शासक शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को पराजित किया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले ओर मुगलों का नेतत्त्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में आ गया। कालान्तर में सम्राट अकबर के सामने देश के छोटे-छोटे हिन्दू और मुसलमान शासकों ने एक-एक कर घुटने टेक दिये। अकबर का प्रतिरोध महाराणा प्रताप ने किया और वे आजीवन लड़ते रहे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड में चंपतराय और महाराष्ट्र में शिवजी ने स्वतन्त्रत का झंडा ऊँचा किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल का सामान्य परिचय देते हुए कहा है, "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रहा गया।" कोई भी साहित्य युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है। किन्तु भक्तिकालीन साहित्य परिस्थितियों से बहुत कम प्रभावित हुआ। एक भक्तिकालीन कवि ने लिखा है।

'सन्तन कहा सीकरी सों काम।'

सामाजिक परिवेश

इस युग में सामाजिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति में आदान-प्रदान हुआ। उस समय तक हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर विवाह हो जाते थे। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिंदूओं और मुसलमानों

में पूर्ण समन्वय स्थापित हो गया था। कुछ मुसलमान शासक हिंदूओं के साथ अत्यंत कठोर व्यवहार करते थे। अलाउद्दीन ने दोआब के हिंदूओं से उपज का 50 प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से वसूल किया था। उस युग के हिंदूओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए 'तारीखे फिरोजशाही' के लेखक बर्नियर का कहना है कि "उन हिंदूओं के पास धन संचित करने के कोई साधन नहीं रह गये थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य पद उनको अप्राप्त थे।"

तत्कालीन साधु-समाज पर भी पाखण्ड की काली छाया मंडराने लगी थी। भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिंदूओं से अधिक भिन्न न थी। वर्ग-व्यवस्था में आस्था न रखने वालों में भी किसी न किसी प्रकार का आपसी भेदभाव बना हुआ था। इन दिनों दास प्रथा भी प्रचलित थी। हिन्दू कन्याओं को सम्पन्न मुसलमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रख लिया करते थे। कुलीन नारियों का अपहरण करवाकर अमीर लोग अपना मनोरंजन करते थे। स्त्रियों को पुरुष जैसा स्तर व सम्मान प्राप्त नहीं था। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थी। बहु विवाह प्रथा के कारण हरमों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। मुस्लिम समाज अपने मूल रूप को खोकर एक प्रकार से भारतीयकरण में प्रचलित हो गया था।

सांस्कृतिक परिवेश

तत्कालीन समय में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक-दूसरे के निकट आईं। संगीत, चित्र तथा भवन-निर्माण कलाओं में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय स्थापित हुआ। समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुराणों में समन्वयात्मकता को जागृत करने व उसे बढ़ावा देने का यथा-सम्भव प्रयास किया गया है। मूर्ति-पूजा, तीर्थ यात्रा, धर्म-शास्त्रों का सम्मान, कर्म फल में विश्वास, अवतारवाद अथवा सगुण भक्ति का ही सर्वत्र आधिपत्य दिखाई देता है। भारतीय समाज में समय-समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परन्तु इन्हीं में से होकर एक जीवनी-शक्ति का संचार भी होता रहा है कि भारतीय साहित्य डूबते-डूबते उभरकर इस युग की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषताओं में गिना जा सकता है, जिनकी धुरी पर

हिन्दू जीवन चक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत-प्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा। मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष उभरकर हमारे सामने आते हैं। एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है।

यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्यद्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वेत, शद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त प्रायः ज्यों के त्यों रह गये हैं।

साहित्यिक परिवेश

भक्तिकाल में जिस साहित्य की रचना हुई वह अधिकांश पद्य में अर्थात् छन्दोबद्ध काव्य रूप में है। उस समय संस्कृत तो उच्च हिन्दू वर्ग के लोगों की काव्य भाषा थी। शाही दरबारों में अरबी-फारसी को प्रयोग होता था। परन्तु हिन्दी की लोकभाषाओं का, विशेष रूप से अवधी तथा ब्रजभाषा का, काव्य में प्रयोग होता था। कबीर ने तो ऐसी मिली-जुली लोकभाषा का प्रयोग किया है जिसे सधुक्कड़ी खिचड़ी अथवा सन्ध्या भाषा कहा गया है। भक्तिकाल में प्रबन्धकाव्य, मुक्तक काव्य तथा गीतिकाव्य की रचना हुई। संस्कृत भाषा के कुछ ग्रंथों की टीकाएँ भी हुईं। हिंदी भाषा और साहित्य ने भक्तिकालीन परिवेश में उच्चकोटि का साहित्य रचने की पृष्ठभूमि नहीं बल्कि चरम विकास प्राप्त किया। कबीर, सूर तथा तुलसी की रचनाएँ साहित्यिक परिवेश की अनुपम देन हैं।

भक्तिकालीन साहित्य चरमोत्कर्ष का साहित्य था। इसकी विशेषताएँ अन्य कालों से कहीं अधिक चरम सीमा पर थी। गुरू की महिमा का वर्णन सभी संतों तथा भक्तों ने गुरू की महत्ता को स्वीकार किया है, क्योंकि भक्तिमार्ग में वही व्यक्ति दीक्षित होता है जिस पर गुरू की कृपा हो। बिना गुरू के ज्ञान होना संभव नहीं।

भक्तिकालीन साहित्य की विशेषताएँ

भक्तिकालीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. गुरु की महत्ता–

भक्तिकाल में गुरु को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया था।

कबीरदास जी ने अपनी 'साखी' में गुरु के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है।

"गुरु गोविदं दोउ खड़े काके लागों पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय॥"

2. आत्म-चेतना व समाज सुधार–

भक्ति युग के समस्त कवियों ने आत्म-चेतना जागृत करने पर विशेष बल दिया तथा धर्म के मार्ग पर चलकर ईश्वर से साक्षात्कार की बात कही। मीराबाई और सूरदास की कृष्णभक्ति की पराकाष्ठा तथा तुलसीदास की अटूट रामभक्ति के कारण तत्कालीन हिंदू समाज की आस्थाओं को बल मिला और समाज एक बार फिर से आस्थावान् हो उठा।

कबीरदास ने तो हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को चेताया और अपनी-अपनी कुरीतियाँ छोड़कर उनसे मानव धर्म का निर्वाह करने के लिए कहा। इस दृष्टि से कबीर सबसे बड़े समाज-सुधारक कहे जा सकते हैं।

3. भक्ति की प्रधानता–

इस काल के काव्य में भक्ति के परम रूप के दर्शन होते हैं। इस काल में संपूर्ण वातावरण भक्तिमय हो गया था। इनके अतिरिक्त कवियों ने कुसंगति को त्यागकर सत्संगति को अपनाने पर विशेष बल दिया है ताकि मनुष्य में सद्घ्गुणों का संचार हो सके। इस काल के काव्यों में भक्ति रस की प्रधानता के साथ ही साथ रस, छंद, अलंकार योजना आदि भावों का सुंदर चित्रण देखने को मिलता है।

तुलसीदास कृत रामचरितमानस, कवितावली, विनयपत्रिका तथा सूरदासकृत सूरसागर, सूर सारावली व साहित्य लहरी आदि इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं। इसी प्रकार निर्गुण शाखा में कबीरदास जी की साखी, सबद व रैमनी तथा मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावत आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि उत्तम साहित्य और भक्ति भाव दोनों ही अर्थों में भक्तिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्णिम काल था। उस युग के महान कवियों द्वारा उत्तम काव्य साहित्य के साथ ही साथ समाज सुधार व लोगों में

आत्म–चेतना व राष्ट्रीय चेतना जागृत करने हेतु अनेक प्रयासों को भुलाया नहीं जा सकता।

भक्ति आन्दोलन

भक्ति भगवान के प्रति मानव की प्रेम भावना का प्रवाह है। इस भावना–प्रवाह से वह तो आनन्द की अनुभूति करता ही है जबकि उससे दूसरे लोग भी आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। भक्ति का मूल उद्‌गम हमें वेदों से ही दिखाई पड़ने लगता है। वह उनकी भक्ति–भावना का ही प्रयास है।

भक्ति आंदोलन के उदय का एक कारण मुसलमान आक्रान्ताओं को भी माना जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत इस प्रकार है–"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ न कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्रा राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छाई रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"

भक्ति आन्दोलन के आचार्यों में शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, रामानन्द, महवाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि रहे हैं। हिंदी का भक्ति आन्दोलन संवत् 1400 से 1700 तक का माना गया है। इसमें प्रमुख रचनाकार कबीरदास, रैदास, नानक, जायसी, सूरदास, मीरा, तुलसीदास आदि दिग्गज कवियों ने भक्ति कालीन परिवेश को आन्दोलन के रूप में उद्‌घाटित किया है।

प्राय: अधिकांश विद्वानों का मत है कि भक्ति का बिखा ऐसा नहीं है जो विदेशों से लाया गया हो। न ही यह निराशा प्रवृत्तिजन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुत: यह एक प्राचीन दर्शन–प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन धारा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "नया साहित्य (भक्ति साहित्य) मनुष्य–जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य हैं भगवद्‌भक्ति, आदर्श, शुद्ध सात्विक जीवन और साधन, भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा

देने वाला तत्त्व भक्ति है। इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अति उत्तम है। मध्यकालीन भक्ति साहित्य प्राय: पद्यमय है और वहाँ साहित्य काव्य का पर्याय है। इसीलिए काव्य रसिकों अथवा साहित्य–पारखियों का ध्यान अचानक ही उन मानदण्डों की ओर आकृष्ट हो जाता है जिन्हें उत्कृष्ट काव्य की कसौटी मान लिया जाता है और जो किसी न किसी काव्यशास्त्र परम्परा का अनुसरण करते हैं। कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी जैसे संवेदनशील इस काल में छाये रहे। इस समय संस्कृत की टीकाओं, व्याख्याओं की सृष्टि होती रही।

धार्मिक संघर्ष के इस युग में तत्कालीन बादशाहों तथा राजाओं के भक्ति कवियों ने प्रशस्ति, शृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें कीं। इस काल में वीर–रस प्रधान काव्यों की रचना हुई तथा इसके साथ-साथ अन्य रसों की भी रचनाएँ लगातार आती रहीं।

भक्तिकालीन साहित्यकारों द्वारा उठाये गये आन्दोलनकारी कदम

रूढ़ियों तथा आडम्बरों का विरोध– प्राय: सभी संत कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्या आडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इसका कारण इन लोगों का सिद्धों तथा नाथ पन्थियों से प्रभावित होना है। ये लोग तत्कालीन समाज में पाई जाने वाली इन कुप्रवृत्तियों का कड़ा विरोध कर चुके थे। इन कवियों ने मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, व्रत, रोजा, नमाज, हज इत्यादि विधि-विधानों का कड़ा विरोध किया है।

आत्मसमर्पण की भावना– संत एवं भक्ति साहित्य में सभी इतिहासकारों की मान्यता रही है क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में जब तक कोई व्यक्ति अपने अहं अथवा 'मैं' की भावना को मिटा नहीं देता, तब तक उसे किसी प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं हो सकती।

तुलसी ने तो अपनी दास्य भक्ति में किसी प्रकार का अहं नहीं रखा।

भजन तथा नाम की महत्ता पर बल– संत कवियों ने ईश्वर–प्राप्ति के लिए भजन तथा नाम–स्मरण को परमावश्यक माना है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि–

"सहजो सुमिरन कीजिए, हिरदै माहिं छिपाइ।
होठ-होठ सूँ न हिलै, सकै नहीं कोई पाइ॥

संत कवि ब्राह्य-विधानों से परिपूर्ण किसी भी साधना–पद्धति में आस्था नहीं रखते। अपने आराध्य का, मन को एकाग्र कर, स्मरण करना ही उनके लिए यहाँ अभिप्रेत रहा है।

गुरू की महत्ता पर बल– सभी संतों ने ब्रह्म–साधना के लिए सद्गुरू का पथ–प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सद्गुरू ही उन्हें परम तत्त्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। नामदेव ने गुरू–महिमा को व्यक्त करते हुए कहा है।

"सुफल जनम मोको गुरू कीना। दुख बिसार सुख अंतरदीना।
ज्ञान जान मोको गुरू दीना। राम नाम बिन जीवन हीना॥"

नारी के प्रति दृष्टिकोण – संत कवियों ने सती एवं पतिव्रता नारियों की प्रशंसा की है।

नारी के सत् पक्ष का निरूपण करते हुए कबीर ने लिखा है–

"पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप, वारौं कोटि सरूप॥"

उन्होंने नारी की कभी भी निन्दा नहीं की है। केवल नारी के कामिनी रूप की निन्दा जरूर की है, उसे माया पथ भ्रष्ट करने वाली माना है।

भक्ति आन्दोलन का उदय दक्षिण–भारत को मानना या न मानना। विद्वानों में चर्चा का विषय रहा है। भक्ति आन्दोलन का उदय बेशक दक्षिण में न माना जाये, लेकिन यह स्वीकार करना पडेगा कि पाँचवी और छठी शताब्दियों में दक्षिण में जैनों और बौद्धों का पतन होता है और शैवों तथा वैष्णवों को अपने कार्य में विजय प्राप्त होती हे। निसंदेह कहा जा सकता है कि, तत्कालीन आलवारों तथा नायनमारों का भक्ति आन्दोलन में विशेष महत्त्व रहा है। इसी महत्त्व को निरूपित करते हुए नन्द लाल सिन्हा ने कहा है–"भारत की एकता तथा हिंदूत्व का सुधार उपस्थित करने के लिए भक्ति आन्दोलन को प्रवत्त करके दक्षिण के आलवार तथा नामनमार सतों ने हमें आभारी कर दिया।" भक्ति आन्दोलन के इतिहास में आलवारों और नायनमारों का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। आलवारों को वैष्णव कहा गया है। इनकी संख्या 12 मानी गयी है। इनकी रचनाएँ 'दिव्य प्रबन्धम्' में संकलित हैं जिसका सम्पादन नाथमुनि ने नौवीं शती के अन्त में किया था। 'दिव्य प्रबन्धम्' में सकलित पदों की संख्या लगभग चार हजार है। नायनमार को शैव कहा जाता है। इनका भी उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना था। इन्होंने अपनी सारी–अर्चना शिव को ध्यान में रखकर की है। तिरूज्ञान सम्बन्धक, अप्पर, सुंदर मूर्ति नायनमारों में प्रधान है। भक्ति के प्रचार और विस्तार में इनका विशेष महत्त्व है। भक्ति आन्दोलन को तीव्र गति प्रदान करने में आचार्यों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।

सूरसागर

सूरसागर में लगभग एक लाख पद होने की बात कही जाती है। किन्तु वर्तमान संस्करणों में लगभग पाँच हजार पद ही मिलते हैं। विभिन्न स्थानों पर इसकी सौ से भी अधिक प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका प्रतिलिपि काल संवत् 1658 वि0 से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक है इनमें प्राचीनतम प्रतिलिपि नाथद्वारा, मेवाड़ के 'सरस्वती भण्डार' में सुरक्षित पायी गईं हैं।

सूरसागर सूरदास जी का प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रथम नौ अध्याय संक्षिप्त है, पर दशम स्कन्ध का बहुत विस्तार हो गया है। इसमें भक्ति की प्रधानता है। इसके दो प्रसंग 'कृष्ण की बाल-लीला' और 'भ्रमर-गीतसार' अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

सूरसागर की सराहना करते हुए डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है-'काव्य गुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्त्व की याद दिलाता है, बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में घुलमिल गया है।' दार्शनिक विचारों की दृष्टि से 'भागवत' और 'सूरसागर' में पर्याप्त अन्तर है।

रामचरितमानस

रामचरितमानस (Ramcharitmanas) तुलसीदास की सबसे प्रमुख कृति है। इसकी रचना संवत् 1631 ई. की रामनवमी को अयोध्या में प्रारम्भ हुई थी किन्तु इसका कुछ अंश काशी (वाराणसी) में भी निर्मित हुआ था, यह इसके किष्किन्धा काण्ड के प्रारम्भ में आने वाले एक सोरठे से निकलती है, उसमें काशी सेवन का उल्लेख है। इसकी समाप्ति संवत् 1633 ई. की मार्गशीर्ष, शुक्ल 5, रविवार को हुई थी किन्तु उक्त तिथि गणना से शुद्ध नहीं ठहरती, इसलिए विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। यह रचना अवधी बोली में लिखी गयी है। इसके मुख्य छन्द चौपाई और दोहा हैं, बीच-बीच में कुछ अन्य प्रकार के भी छन्दों का प्रयोग हुआ है। प्रायः 8 या अधिक अर्द्धलियों के बाद दोहा होता है और इन दोहों के साथ कड़वक संख्या दी गयी है। इस प्रकार के समस्त कड़वकों की संख्या 1074 है।

रामचरितमानस चरित-काव्य

'रामचरितमानस' एक चरित-काव्य है, जिसमें राम का सम्पूर्ण जीवन-चरित वर्णित हुआ है। इसमें 'चरित' और 'काव्य' दोनों के गुण समान रूप से मिलते हैं। इस काव्य के चरितनायक कवि के आराध्य भी हैं, इसलिए वह 'चरित' और 'काव्य' होने के साथ-साथ कवि की भक्ति का प्रतीक भी है। रचना के इन तीनों रूपों में उसका विवरण इस प्रकार है-

संक्षिप्त कथा

'रामचरितमानस' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है-

दक्षों से लंका को जीतकर राक्षसराज रावण वहाँ राज्य करने लगा। उसके अनाचारों-अत्याचारों से पृथ्वी त्रस्त हो गयी और वह देवताओं की शरण में गयी। इन सब ने मिलकर हरि की स्तुति की, जिसके उत्तर में आकाशवाणी हुई कि हरि दशरथ-कौशल्या के पुत्र राम के रूप में अयोध्या में अवतार ग्रहण करेंगे और राक्षसों का नाश कर भूमि-भार हरण करेंगे। इस आश्वासन के अनुसार चौत्र के शुक्ल पक्ष की नवमी को हरि ने कौशल्या के पुत्र के रूप में अवतार धारण किया। दशरथ की दो रानियाँ और थीं- कैकेयी और सुमित्र। उनसे दशरथ के तीन और पुत्रों-भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने जन्म ग्रहण किया।

विश्वामित्र के आश्रम में राम

इस समय राक्षसों का अत्याचार उत्तर भारत में भी कुछ क्षेत्रों में प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण मुनि विश्वामित्र यज्ञ नहीं कर पा रहे थे। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि दशरथ के पुत्र राम के रूप में हरि अवतरित हुए हैं, वे अयोध्या आये और जब राम बालक ही थे, उन्होंने राक्षसों के दमन के लिए दशरथ से राम की याचना की। राम तथा लक्ष्मण की सहायता से उन्होंने अपना यज्ञ पूरा किया। इन उपद्रवकारी राक्षसों में से एक सुबाहु था, जो मारा गया और दूसरा मारीच था, जो राम के बाणों से आहत होकर सौ योजन की दूरी पर समुद्र के पार चला गया। जिस समय राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के आश्रम में रह रहे थे, मिथिला में धनुर्यज्ञ का आयोजन किया गया था, जिसके लिए मुनि को निमन्त्रण प्राप्त हुआ। अतः मुनि राम-लक्ष्मण को लेकर मिथिला गये। मिथिला के राजा जनक ने देश-विदेश के समस्त राजाओं को अपनी पुत्री सीता के स्वयंवर हेतु आमन्त्रित किया था। रावण और बाणासुर जैसे बलशाली राक्षस नरेश भी इस

आमन्त्रण पर वहाँ गये थे किन्तु अपने को इस कार्य के लिए असमर्थ मानकर लौट चुके थे। दूसरे राजाओं ने सम्मिलित होकर भी इसे तोड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु वे अकृत कार्य रहे। राम ने इसे सहज ही तोड़ दिया और सीता का वरण किया। विवाह के अवसर पर अयोध्या निमन्त्रण भेजा गया। दशरथ अपने शेष पुत्रों के साथ बारात लेकर मिथिला आये और विवाह के अनन्तर अपने चारों पुत्रों को लेकर अयोध्या लौटे।

कैकेयी और कोपभवन

दशरथ की अवस्था धीरे-धीरे ढलने लगी थी, इसलिए उन्होंने राम को अपना युवराज पद देना चाहा। संयोग से इस समय कैकेयी-पुत्र भरत सुमित्र-पुत्र शत्रुघ्न के साथ ननिहाल गये हुए थे। कैकेयी की एक दासी मन्थरा को जब यह समाचार ज्ञात हुआ, उसने कैकेयी को सुनाया। पहले तो कैकेयी ने यह कहकर उसका अनुमोदन किया कि पिता के अनेक पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता है, यह उसके राजकुल की परम्परा है, किन्तु मन्थरा के यह सुझाने पर कि भरत की अनुपस्थिति में जो यह आयोजन किया जा रहा है, उसमें कोई दुरभि-सन्धि है, कैकेयी ने उस आयोजन को विफल बनाने का निश्चय किया और कोप भवन में चली गयी। तदनन्तर उसने दशरथ से, उनके मनाने पर, दो वर देने के लिए वचन, एक से राम के लिए 14 वर्षों का वनवास और दूसरे से भरत के लिए युवराज पद माँग लिये। इनमें से प्रथम वचन के अनुसार राम ने वन के लिए प्रस्थान किया तो उनके साथ सीता और लक्ष्मण ने भी वन के लिए प्रस्थान किया।

कुछ ही दिनों बाद जब दशरथ ने राम के विरह में शरीर त्याग दिया, भरत ननिहाल से बुलाये गये और उन्हें अयोध्या का सिंहासन दिया गया, किन्तु भरत ने उसे स्वीकार नहीं किया और वे राम को वापस लाने के लिए चित्रकूट जा पहुँचे, जहाँ उस समय राम निवास कर रहे थे किन्तु राम ने लौटना स्वीकार न किया। भरत के अनुरोध पर उन्होंने अपनी चरण-पादुकाएँ उन्हें दे दीं, जिन्हें अयोध्या लाकर भरत ने सिंहासन पर रखा और वे राज्य का कार्य देखने लगे। चित्रकूट से चलकर राम दक्षिण के जंगलों की ओर बढ़े। जब वे पंचवटी में निवास कर रहे थे रावण की एक भगिनी शूर्पणखा एक मनोहर रूप धारण कर वहाँ आयी और राम के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनसे विवाह का प्रस्ताव किया। राम ने जब इसे अस्वीकार किया तो उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया। यह

देखकर राम के संकेतों से लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिये। इस प्रकार कुरूप की हुई शूर्पणखा अपने भाइयों-खर और दूषण के पास गयी और उन्हें राम से युद्ध करने को प्रेरित किया। खर-दूषण ने अपनी सेना लेकर राम पर आक्रमण कर दिया किन्तु वे अपनी समस्त सेना के साथ युद्ध में मारे गये। तदनन्तर शूर्पणखा रावण के पास गयी और उसने उसे सारी घटना सुनायी। रावण ने मारीच की सहायता से, जिसे विश्वामित्र के आश्रम में राम ने युद्ध में आहत किया था, सीता का हरण किया, जिसके परिणामस्वरूप राम को रावण से युद्ध करना पड़ा।

राम और रावण युद्ध

इस परिस्थिति में राम ने किष्किन्धा के वानरों की सहायता ली और रावण पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के साथ रावण का भाई विभीषण भी आकर राम के साथ हो गया। राम ने अंगद नाम के वानर को रावण के पास दूत के रूप में अन्तिम बार सावधान करने के लिए भेजा कि वह सीता को लौटा दे, किन्तु रावण ने अपने अभिमान के बल से इसे स्वीकार नहीं किया और राम तथा रावण के दलों में युद्ध छिड़ गया। उस महायुद्ध में रावण तथा उसके बन्धु-बान्धव मारे गये। तदनन्तर लंका का राज्य उसके भाई विभीषण को देकर सीता को साथ लेकर राम और लक्ष्मण अयोध्या वापस आये। राम का राज्याभिषेक किया गया और दीर्घकाल तक उन्होंने प्रजारंजन करते हुए शासन किया। इस मूल कथा के पूर्व 'रामचरितमानस' में रावण के कुछ पूर्वभवों की तथा राम के कुछ पूर्ववर्ती अवतारों की कथाएँ हैं, जो संक्षेप में दी गयी है। कथा के अन्त में गरुड़ और काग भुशुण्डि का एक विस्तृत संवाद है, जिसमें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक विषयों का विवेचन हुआ है। कथा के प्रारम्भ होने के पूर्व शिव-चरित्र, शिव-पार्वती संवाद, याज्ञवलक्य-भारद्वाज संवाद तथा काग भुशुण्डि-गरुड़ संवाद के रूप में कथा की भूमिकाएँ हैं। और उनके भी पूर्व कवि की भूमिका और प्रस्तावना है।

'चरित' की दृष्टि से यह रचना पर्याप्त सफल हुई है। इसमें राम के जीवन की समस्त घटनाएँ आवश्यक विस्तार के साथ एक पूर्वाकार की कथाओं से लेकर राम के राज्य-वर्णन तक कवि ने कोई भी प्रासंगिक कथा रचना में नहीं आने दी है। इस सम्बन्ध में यदि वाल्मीकी तथा अन्य अधिकतर राम-कथा ग्रन्थों से 'रामचरितमानस' की तुलना की जाय तो तुलसीदास की विशेषता प्रमाणित होगी। अन्य रामकथा ग्रन्थों में बीच-बीच में कुछ प्रासंगिक

कथाएँ देखकर अनेक क्षेपककारों ने 'रामचरितमानस' में प्रक्षिप्त प्रसंग रखे और कथाएँ मिलायीं, किन्तु राम-कथा के पाठकों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और वे रचना को मूल रूप में ही पढ़ते और उसका पारायण करते हैं। चरित-काव्यों की एक बड़ी विशेषता उनकी सहज और प्रयासहीन शैली मानी गयी है, और इस दृष्टि से 'मानस' एक अत्यन्त सफल चरित है। रचना भर में तुलसीदास ने कहीं भी अपना काव्य कौशल, अपना पाण्डित्य, अपनी बहुज्ञता आदि के प्रदर्शन का कोई प्रयास नहीं किया है। सर्वत्र वे अपने वर्ण्य विषय में इतने तन्मय रहे हैं कि उन्हें अपना ध्यान नहीं रहा। रचना को पढ़कर ऐसा लगता है कि राम के चरित ने ही उन्हें वह वाणी प्रदान की है, जिसके द्वारा वे सुन्दर कृति का निर्माण कर सके।

उत्कृष्ट महाकाव्य

'काव्य' की दृष्टि से 'रामचरितमानस' एक अति उत्कृष्ट महाकाव्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'महाकाव्य' के जितने लक्षण दिये गये हैं, वे उसमें पूर्ण रूप से पाये जाते हैं।

कथा-प्रबन्ध का सर्गबद्ध होना,
उच्चकुल सम्भूत धीरोदात्त नायक का होना,

शृंगार, शान्त और वीर रसों में से किसी एक का उसका लक्ष्य होना आदि सभी लक्षण उसमें मिलते हैं। पाश्चात्य साहित्यालोचन में 'इपिक' की जो विभिन्न आवश्यकताएँ बतलायी गयी हैं, यथा- उसकी कथा का किसी गौरवपूर्ण अतीत से सम्बद्ध होना, अतिप्राकृत शक्तियों का उसकी कथा में भाग लेना, कथा के अन्त में किन्हीं आदर्शों की विजय का चित्रित होना आदि, सभी 'रामचरितमानस' में पाई जाती हैं। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो 'रामचरितमानस' एक अत्यन्त उत्कृष्ट महाकाव्य ठहरता है। मुख्यतः यही कारण है कि संसार की महान् कृतियों में इसे भी स्थान मिला है।

रामचरितमानस में छन्दों की संख्या

रामचरितमानस में विविध छन्दों की संख्या निम्नवत है–
चौपाई-9388
दोहा-1172
सोरठा-87

श्लोक-47 (अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति, प्रमाणिका, मालिनी, स्रग्धरा, रथोद्धता, भुर्ज्गप्रयात, तोटक)

छन्द-208 (हरिगीतिका, चौपैया, त्रिभ्र्गी, तोमर)

कुल 10902 (चौपाई, दोहा, सोरठा, श्लोक, छन्द)

तुलसीदास की भक्ति

तुलसीदास की भक्ति की अभिव्यक्ति भी इसमें अत्यन्त विशद रूप में हुई है। अपने आराध्य के सम्बन्ध में उन्होंने 'रामचरितमानस' और विनय-पत्रिका' में अनेक बार कहा है कि उनके राम का चरित्र ही ऐसा है कि जो एक बार उसे सुन लेता है, वह अनायास उनका भक्त हो जाता है। वास्तव में तुलसीदास ने अपने आराध्य के चरित्र की ऐसी ही कल्पना की है। यही कारण है कि इसने समस्त उत्तरी भारत पर सदियों से अपना अद्भुत प्रभाव डाल रखा है और यहाँ के आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया है। घर-घर में 'रामचरितमानस' का पाठ पिछली साढ़े तीन शताब्दियों से बराबर होता आ रहा है। और इसे एक धर्म ग्रन्थ के रूप में देखा जाता है। इसके आधार पर गाँव-गाँव में प्रतिवर्ष रामलीलाओं का भी आयोजन किया जाता है। फलतः जैसा विदेशी विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। उत्तरी भारत का यह सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ है और इसने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उच्चाशयता लाने में सफलता प्राप्त की है।

लोकप्रिय ग्रन्थ

यहाँ पर स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि तुलसीदास ने राम तथा उनके भक्तों के चरित्र में ऐसी कौन-सी विलक्षणता उपस्थित की है, जिससे उनकी इस कृति को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। तुलसीदास की इस रचना में अनेक दुर्लभ गुण हैं, किन्तु कदाचित अपने जिस महान् गुण के कारण इसने यह असाधारण सम्मान प्राप्त किया है, वह है ऐसी मानवता की कल्पना, जिसमें उदारता, क्षमा, त्याग, निर्वैरता, धैर्य और सहनशीलता आदि सामाजिक शिवत्व के गुण अपनी पराकाष्ठा के साथ मिलते हों और फिर भी जो अव्यावहारिक न हों। 'रामचरितमानस' के सर्वप्रमुख चरित्र-राम, भरत, सीता आदि इसी प्रकार के हैं। उदाहरण के लिए राम और कौशल्या के चरित्रों को देखते हैं-

'वाल्मीकि रामायण' में राम जब वनवास का दुरूसंवाद सुनाने कौशल्या के पास आते हैं, वे कहते हैं– 'देवि, आप जानती नहीं हैं, आपके लिए, सीता

के लिए और लक्ष्मण के लिए बड़ा भय आया है, इससे आप लोग दु:खी होंगे। अब मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ, इससे आप लोग दुखी होंगे। भोजन के निमित्त बैठने के लिए रखे गये इस आसन से मुझे क्या करना है? अब मेरे लिए कुशा आसन चाहिये, आसन नहीं। निर्जन वन में चौदह वर्षों तक निवास करूँगा। अब मैं कन्द मूल फल से जीविका चलाऊँगा। महाराज युवराज का पद भरत को दे रहे हैं और तपस्वी वेश में मुझे अरण्य भेज रहे हैं'।

'अध्यात्म रामायण' में राम ने इस प्रसंग में कहा है, 'माता मुझे भोजन करने का समय नहीं है, क्योंकि आज मेरे लिए यह समय शीघ्र ही दण्डकारण्य जाने के लिए निश्चित किया गया है। मेरे सत्य-प्रतिज्ञ पिता ने माता कैकेयी को वर देकर भरत को राज्य और मुझे अति उत्तम वनवास दिया। वहाँ मुनि वेश में चौदह वर्ष रहकर मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा, आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।'

'रामचरितमानस' में यह प्रसंग इस प्रकार है-

'मातृ वचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतः के फूला॥
सुख मकरन्द भरे श्रिय मूला। निरखि राम मन भंवरू न भूला॥
धरम धुरीन धरम गनि जानी। कहेउ मातृ सन अमृत वानी॥
पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपति मोरे। आबहुँ अम्ब अनुग्रह तोरे॥'

तुलनात्मक अध्ययन

यहाँ पर दर्शनीय यह है कि तुलसीदास 'वाल्मीकि-रामायण' के राम को ग्रहण न कर 'अध्यात्म रामायण' के राम को ग्रहण किया है। वाल्मीकि के राम में भरत की ओर से अपने स्नेही स्वजनों के सम्बन्ध में जो अनिष्ट की आशंका है, वह 'अध्यात्म रामायण' के राम में नहीं रह गयी है और तुलसीदास के राम में भी नहीं आने पायी है, किन्तु इसी प्रसंग में पिता की आज्ञा के प्रति लक्ष्मण के विद्रोह के शब्दों को सुनकर राम ने संसार की अनित्यता और देहादि से आत्मा की भिन्नता का एक लम्बा उपदेश दिया है, जिस पर उन्होंने माता से नित्य विचार करने के लिए अनुरोध किया है, 'हे मात:! तुम भी मेरे इस कथन पर नित्य विचार करना और मेरे फिर मिलने की प्रतीक्षा करती रहना। तुम्हें अधिक काल तक दु:ख न होगा। कर्म-बन्धन में बँधे हुए जीवों का सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता, जैसे

नदी के प्रवाह में पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलती'।

व्यावहारिकता

तुलसीदास इस अध्यात्मवाद की दुहाई न देकर अपने आदर्शवाद को अव्यावहारिक होने से बचा लेते हैं। वे राम को एक धर्म-निष्ठ नायक के रूप में ही चित्रित करते हैं, जो पिता की आज्ञा का पालन करना अपना एक परम पुनीत कर्तव्य समझता है, इसलिए उन्होंने कहा है।

'धरम धुरीन धरम गतिजानी।
कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥'

दूसरा प्रसंग

वनवास के दु:ख संवाद को जब राम सीता को सुनाने जाते हैं,

'वाल्मीकीय रामायण' में वे कहते हैं– 'मैं निर्जन वन में जाने के लिए प्रस्तुत हुआ हूँ और तुमसे मिलने के लिए यहाँ आया हूँ। तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना, क्योंकि समृद्धिवान लोग दूसरों की स्तुति नहीं सह सकते, इसलिए भरत के सामने तुम मेरे गुणों का वर्णन न करना। भरत के आने पर तुम मुझे श्रेष्ठ न बतलाना, ऐसा करना भरत के प्रतिकूल आचरण कहा जायेगा और अनुकूल रहकर ही भरत के पास रहना सम्भव हो सकता है। परम्परागत राज्य राजा ने भरत को ही दिया है। तुमको चाहिये कि तुम उसे प्रसन्न रखो, क्योंकि वह राजा है'

'अध्यात्म रामायण' में इस प्रसंग में राम ने इतना ही कहा है, हे शुभे! मैं शीघ्र ही उसका प्रबन्ध करने के लिए वहाँ जाऊँगा। मैं आज ही वन को जा रहा हूँ। तुम अपनी सासू के पास जाकर उनकी सेवा-शुश्रुषा में रहो। मैं झूठ नहीं बोलता।...हे अनो! महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक कैकयी को वर देकर भरत को राज्य और मुझे वनवास दिया है। देवी कैकेयी ने भरत को राज्य और मुझे वनवास दिया हैं। देवी कैकेयी ने मेरे लिए चौदह वर्ष तक वन में रहना माँगा था, सो सत्यवादी दयालु महाराज ने देना स्वीकार कर लिया है। अत: हे भामिनि! मैं वहाँ शीघ्र ही जाऊँगा, तुम इसमें किसी प्रकार का विघ्न न खड़ा करना।

'रामचरितमानस' में इस प्रकार सीता से विदा लेने गये हुए राम नहीं दिखलाये जाते हैं, इसमें सीता स्वयं कौशल्या के पास उस समय वनवास का

समाचार सुनकर आ जाती हैं, जब राम कौशल्या से वन गमन की आज्ञा लेने के लिए आते हैं और सीता की राम के साथ वन जाने की इच्छा समझकर कौशल्या ही राम से उनकी इच्छा का निवेदन करती हैं। 'अध्यात्म रामायण' में ही भरत के प्रति किसी प्रकार की आशंका और सन्देह के भाव राम के मन में नहीं चित्रित किये गये, 'रामचरितमानस' में भी राम के उसी उदार व्यक्तित्त्व को अंकित किया गया है।

रामचरितमानस की लोकप्रियता

इसी प्रकार भरत, सीता, कैकेयी और कथा के अन्य प्रमुख पात्रों में भी तुलसीदास ने ऐसे सुधार किये हैं कि वे सर्वथा तुलसीदास के हो गये हैं। इन चरित्रों में मानवता का जो निष्कलुष किन्तु व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया गया है, वह न केवल तत्कालीन साहित्य में नहीं आया, तुलसी के पूर्व राम-साहित्य में भी नहीं दिखाई पड़ा। कदाचित इसलिए तुलसीदास के 'रामचरितमानस' ने वह लोकप्रियता प्राप्त की, जो तब से आज तक किसी अन्य कृति को नहीं प्राप्त हो सकी। भविष्य में भी इसकी लोकप्रियता में अधिक अन्तर न आयेगा, दृढ़तापूर्वक यह कहना तो किसी के लिए भी असम्भव होगा किन्तु जिस समय तक मानव जाति आदर्शों और जीवन-मूल्यों में विश्वास रखेगी, 'रामचरितमानस' को सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा, यह कहने के लिए कदाचित किसी भविष्यत-वक्ता की आवश्यकता नहीं है।

गीतावली

गीतावली तुलसीदास की एक प्रमुख रचना है। इसमें गीतों में भगवान श्रीराम की कथा कही गयी है अथवा यों कहना चाहिए कि राम-कथा सम्बन्धी जो गीत गोस्वामी तुलसीदास ने समय-समय पर रचे, वे इस ग्रन्थ में संग्रहित हुए हैं। सम्पूर्ण रचना सात खण्डों में विभक्त है। काण्डों में कथा का विभाजन प्रायः उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार 'रामचरितमानस' में हुआ है। किन्तु न इसमें कथा की कोई प्रस्तावना या भूमिका है और न ही 'मानस' की भाँति इसमें उत्तरकाण्ड में अध्यात्मविवेचन। बीच-बीच में भी 'मानस' की भाँति आध्यात्मिक विषयों का उपदेश करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। सम्पूर्ण पदावली राम-कथा तथा रामचरित से सम्बन्धित है। मुद्रित संग्रह में 328 पद हैं।

पूर्ववर्ती रूप

'गीतावली' का एक पूर्ववर्ती रूप भी प्राप्त हुआ है, जो इससे छोटा था। उसका नाम 'पदावली रामायण' था। इसकी केवल एक प्रति प्राप्त हुई है और वह भी अत्यन्त खण्डित है। इसमें सुन्दर और उत्तरकाण्डों के ही कुछ अंश बचे हैं और उत्तरकाण्ड का भी अन्तिम अंश न होने के कारण पुष्पिका नहीं रह गयी है। इसलिए प्रति की ठीक तिथि ज्ञात नहीं है। यह संग्रह वर्तमान से छोटा रहा होगा। यह इससे प्रकट है कि प्राप्त अंशों में वर्तमान संग्रह के अनेक पद बीच-बीच में नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि यह वर्तमान का कोई चयन होगा, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कभी-कभी छन्दों का क्रम भिन्न मिलता है। इसके अतिरिक्त इसके साथ की ही एक प्रति 'विनयपत्रिका' की प्राप्त हुई है, जिसका प्रति में ही 'राम गीतावली' नाम दिया हुआ है। वह भी 'विनयपत्रिका' का वर्तमान से छोटा पाठ देती है। इसलिए यह प्रकट है कि 'पदावली रामायण' का वह पाठ, जो प्रस्तुत एक मात्र प्रति में मिलता है, 'गीतावली' का ही कोई पूर्व रूप रहा होगा।

आलोचक कथन

'गीतावली' में कुछ पद ऐसे भी हैं, जो 'सूरसागर' में मिलते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि ये पद उसमें 'सूरसागर' से गये होंगे। सूरदास, तुलसीदास से कुछ ज्येष्ठ थे, इसलिए कुछ आलोचक तो यह भी कहने में नहीं हिचकते कि इन्हें तुलसीदास ने ही 'गीतावली' में रख लिया होगा और जो इस सीमा तक नहीं जाना चाहते, वे कहते हैं कि तुलसीदास के भक्तों ने उनकी रचना को और पूर्ण बनाने के लिए यह किया होगा। किन्तु एक बात इस सम्बन्ध में विचारणीय है। 'गीतावली' की प्रतियाँ कई दर्जन संख्या में प्राप्त हुई है और वे सभी आकार-प्रकार में सर्वथा एक सी हैं और उन सबों में ये छन्द पाये जाते हैं।

सूरसागर की प्रतियाँ

'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ मिलती है, उनमें आकार-प्रकार भेद अधिक है। कुछ में केवल कुछ सौ पद हैं तो कुछ में कुछ हजार पद हैं। उनमें क्रम आदि में भी परस्पर काफी वैभिन्न्य है और फिर 'सूरसागर' की सभी प्रतियों में ये पद पाये जाते हैं, या नहीं, यह अभी तक देखा नहीं गया है। 'सूरसागर' के मुद्रित पाठ में अन्य अनेक ज्ञात कवियों-भक्तों के पद भी सम्मिलित मिलते हैं। ऐसी

दशा में वास्तविकता तो उलटे यह ज्ञान पड़ती है कि ये पद तुलसीदास की ही 'गीतावली' के थे, जो अन्य कवियों-भक्तों की पदावली की भाँति 'सूरसागर' में सूरदास के प्रेमियों के द्वारा सम्मिलित कर लिये गये।

अंतर

तुलसीदास ने कुल लगभग सात सौ पदों की रचना की है और गीति शिल्प में वे किसी से पीछे नहीं हैं। ऐसी दशा में वे तीन पद 'गीतावली' में और तीन-चार पद 'कृष्ण गीतावली' में सूरदास या किसी अन्य कवि से लेकर क्यों रखते? इसमें जो राम कथा आती है, वह प्रायः 'रामचरितमानस' के समान ही है, केवल कुछ विस्तारों में अन्तर है, जो 'रामचरितमानस 'के पूर्व रचे ग्रन्थों में ही मिलते हैं, और कुछ ऐसे हैं, जो कवि की किसी भी अन्य कृति में नहीं मिलते हैं।

प्रथम प्रकार के अन्तर निम्नलिखित हैं–

परशुराम-राम मिलन मिथिला की स्वयंवर भूमि में न होकर बारात की वापसी में होता है और उसमें विवाद परशुराम-राम में ही होता है, लक्ष्मण से नहीं।

राम के राज्यारोहण के अनन्तर 'स्थान, यति, खग' के न्याय, ब्राह्मण बालक के जीवन-दान, सीता के निर्वासन और लव-कुश जन्म की कथाएँ आती हैं। इसी विस्तार में 'रामाज्ञा प्रश्न' भी है।

दूसरे प्रकार के अन्तर निम्नलिखित है–

स्वयंवर भूमि में जब विश्वामित्र राम को धनुष तोड़ने के लिए आज्ञा देते हैं, जनक राम के कृतकार्य होने के विषय में सन्देह प्रकट करते हैं। इस प्रकार विश्वामित्र जनक के योग-वैराग्य की सराहना करते हुए कहते हैं कि ऐसा वे राम के स्नेह के वश में होने के कारण समझते हैं और राम भी जनक के योग वैराग्य की उस सराहना का समर्थन करते हैं, जब इन सबके अनन्तर जनक की शंका का निवारण हो जाता है, 'गीतावली' में तब राम धनुष तोड़ने के लिए आगे बढ़ते हैं।

विश्वामित्र के साथ गये हुए राम-लक्ष्मण के विषय में माताएँ चिन्तित होती हैं।

वनवास की अवधि में कौशल्या अनेक बार राम-विरह में व्यथित होती हैं।

राम जटायु के प्रति पितृ-स्नेह और शबरी के प्रति मातृ-स्नेह व्यक्त करते हैं।

रावण के द्वारा सीता के हरण की सूचना राम को देव-गण देते हैं।

हनुमान जब सीता को राम की मुद्रिका देते हैं और सीता हनुमान से राम का कुशल पूछती हैं और मुद्रिका देती हैं।

रावण से अपमानित होकर विभीषण सीधे राम की शरण में नहीं जाते हैं।

युद्ध स्थल में लक्ष्मण के आहत होने का समाचार पाकर सुमित्रा हनुमान से अपने दूसरे पुत्र शत्रुघ्न को भी राम के राज्याभिषेक के अनन्तर दोलोत्सव, दीपमालिकोत्सव तथा बसन्तोत्सव आदि होते हैं, जिसमें अयोध्या का समस्त नर-नारी समाज निस्संकोच भाव से सम्मिलित होता है।

'मानस' 'गीतावली' की तुलना में आकार-प्रकार से चौगुना है और प्रबन्ध काव्य हैं। फिर भी ये कथा विस्तार से ज्ञात होता है कि 'गीतावली' के कुछ अंश 'मानस' के पूर्व की रचना अवश्य होंगे और इसी प्रकार उपर्युक्त दूसरे प्रकार के कथा-विस्तारों से ज्ञात होता है कि उसके अंश 'रामचरितमानस' के बाद की रचना होंगे। 'रामचरितमानस' के समान तो 'गीतावली' का अधिकांश है ही, जिसका यहाँ पर कोई प्रमाण देना अनावश्यक होगा। इस प्रकार 'गीतावली' के पदों की रचना एक बहुत विस्तृत अवधि में हुई होगी।

विशिष्ट स्थान

'गीतावली' का तुलसीदास की रचनाओं में एक विशिष्ट स्थान है, जिस पर अभी तक यथेष्ट ध्यान नहीं दिया गया है। अनेक बातों में यह 'रामचरितमानस' के समान होते हुए भी गीतों के साँचे उसी की राम-कथा को ढाल देने का प्रयास मात्र नहीं है। यह एक प्रकार से 'मानस' का पूरक है। 'मानस' में जीवन के कोमल और मधुर-पक्षों को जैसे जान-बूझकर दबाया गया हो, 'मानस' में कौशल्या राम को वन भेजकर केवल एक बार व्यथित दीख पड़ती हैं, वह है भरत के आगमन पर, किन्तु फिर पुत्र शोकातुरा कौसल्या के दर्शन नहीं होते। 'गीतावली' में तो अनेक बार वह राम विरह में धैर्य खोती चित्रित होती हैं, उसमें तो वह राम विरह में उन्माद-ग्रस्त हो चुकी हैं-

कबहु प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय बचन सबारे।
उठहु तात बलि मातृ बदन पर अनुज सखा सब द्वारे।
कबहुँ कहति यों बड़ी बार भई जाहु भूप पहं भैया।
बन्धु बोलि जेंइय जो भावै गईं निछावरी मैया।

आदि पदों में कौसल्या का जो चित्र अंकित किया गया है, वह 'मानस' में नहीं किया गया है और कदाचित जान-बूझकर नहीं किया गया है।

सीता के साथ राम की जिस 'माधुरी-विलास-हाल' का चित्रण चित्रकूट की दिनचर्या में 'गीतावली' में हुआ है अथवा उसके उत्तरकाण्ड में भोर में 'प्रिय प्रेम रस पागे' अलसाये हुए राम का जो चित्रण हुआ है, और विभिन्न प्रसंगों में अयोध्या के नारी-समाज द्वारा राम के जिस सौन्दर्य-पान का वर्णन किया गया है, उनका एक भी समतुल्य 'मानस' में नहीं है।

'मानस' की रचना तुलसीदास ने सम्पूर्ण समाज के लिए की थी। 'सुर सरि सम सब कहै हित होई' इस भावना उनकी रचना की सीमाओं का कहीं भी अतिक्रमण नहीं होने दिया, जबकि 'गीतावली' के अधिकतर पदों की रचना उन्होंने सम्भवत: केवल भक्त और रसिक समुदाय के लिए की। इसलिए इसमें हमें 'मानस' के तुलसीदास की अपेक्षा एक अधिक वास्तविक और हाड़-मांस के तुलसीदास के दर्शन होते हैं।

भक्तिकालीन गद्य साहित्य

भक्तिकालीन में गद्य साहित्य के उत्थान का काल रहा है। इसमें अनेक रचनाकारों ने अपनी कृतियों से इस काल को सुशोभित किया है। भक्ति कालीन गद्य साहित्य को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. ब्रजभाषा में गद्य साहित्य–भक्तिकालीन समय में गद्य साहित्य में उल्लेखनीय कार्य किया गया। गद्य के इतिहास में गोरखपंथी ग्रंन्थों की चर्चा मिलती है।

2. खड़ी बोली में गद्य साहित्य–उत्तर भारत में खड़ी बोली में रचित गद्य रचनाओं का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। प्रामाणिक रचनाएँ 17 वीं शताब्दी से प्राप्त होती है। इस काल की प्रमुख रचनाएं कुतुबशतक, भागलु पुरान, गणेस गोसठ, पोथी सचुषुंड।

3. दक्खिनी में गद्य साहित्य–दक्खिनी का अविर्भाव सूफियों और संतों के द्वारा हुआ। इन रचनाओं का विषय प्रेमाख्यानक रहा है। इसका आदि कवि गेसूदराज बन्दानवाज कहे जाते हैं दक्खिनी गद्य की कृतियों में वजही कृत 'सबरस' का विशेष महत्त्व रहा है।

4. राजस्थानी में गद्य साहित्य–राजस्थानी का गद्य साहितय में मारवाड़ी बोली में गद्य का पुष्कल साहित्य प्राप्त होता है। इस गद्य में अनेक विषयों को

अपने वर्णन का विषय बनाया है। राजस्थानी गद्य की प्रमुख भक्तिकालीन गद्य कृतियाँ–तत्त्व विचार पृथ्वीचन्द्र चरित्र, धनपाल कथा, अंजनासुंदरी कथा' आदि हैं इनके अलावा आदिनाथ चरित्र, कालिकाचार्य कथा, श्रावक व्रतादि अतिचार, कल्याण मंदिरस्रोत की अवचूरी यानी व्याख्या, गणितसार, मुग्धावबोध मौक्तिक टीका (टीका ग्रंथ) कोकशास्त्र बालावबोध, उक्ति संग्रह भाष्य आदि भक्तिकालीन राजस्थानी गद्य साहितय की रचनाएं है।

भक्तिकालीन गद्य साहित्य की विशेषताएँ

भक्तिकालीन गद्य साहित्य की प्रवृत्ति प्रायः आदिकालीन गद्य साहित्य की तरह पद्यानुकारी गद्य जैसी रही है। पद्य में तुक का जो महत्त्व था वह इस समय के गद्य में भी देखने में आता है। एक तरह से यह पद्य को गद्य की ओर ले जाने का प्रयास है, भक्तिकाल के गद्य के कई रूप मिलते हैं: ब्रजभाषा गद्य, खड़ी बोली गद्य, दक्खिनी गद्य, राजस्थानी गद्य आदि। इनमें से ब्रजभाषा गद्य की पंडिताऊ छवि, दक्खिनी गद्य की उर्दू–फारसी मिश्रण पद्धति खड़ी बोली की गद्य कृतियाँ बहुत सी पद्य रचना के अनुवादवाली है। भक्तिकालीन गद्य के सन्दर्भ में ऐसी रचनाएँ भी आ गईं हैं, जिनका उल्लेख दूसरे विद्धानों ने अपभ्रंश की गद्य रचनाओं के संदर्भ में किया है। इसका प्रमुख उदाहरण पृथ्वीचन्द्र नामक कृति है जिसके रचयिता माणिक्य चन्द्र सूरि है।

भाषा की वैज्ञानिक दृष्टि से भक्तिकाल का गद्य बड़े महत्त्व का है। किस प्रकार संहित भाषा व्यवहित बनती है उसका संश्लिष्ट पद–क्रिया रूप सरलता की ओर है और उसका पूर्व रूप इस काल के गद्य में मिलता है बहुत से शब्द एकदम संस्कृत विभक्तियों से युक्त होकर प्रयुक्त हुए है और बाद में उनकी वे विभक्तियाँ घिसकर वर्तमान हिंदी रूप में ढली है। महादेव गोरषगुष्टि में आये ऐसे शब्द इस तरह के उदाहरण हैं–उतपतते, कथन्ति, कथित, भ्रमते। भक्तिकालीन गद्य में ललित गद्य का समावेश अपेक्षाकृत अधिक होना प्रारंभ हो गया था। इस समय के गद्य के साथ पद्य का समावेश कई रूपों में देखने में आता है कुछ रचनाएँ ऐसी हैं, जो पूर्णतः गद्य की हैं। दूसरी तरह की रचनाएँ गद्य के साथ पद्य को भी साथ–साथ लेकर चली हैं। गद्य के विकास की दुर्बलता में विद्वानों ने पद्य के झुकाव को कारण माना है। पद्य प्रायः कंठ करने में सरल होता है। इसलिए पद्य को अधिक प्रमुखता मिलती रही है और इस जमाने तक साहित्य को कंठस्थ करने की परम्परा बराबर बनी हुई थी। अतः गद्य की ओर झुकाव कम रहा।

दक्खिनी हिंदी की तरह दक्खिनी गद्य भी उर्दू फारसी मिश्रित रूप में इस काल में देखने में आता है। इसके रचयिता मुख्यतः वे मुसलमान विद्वान थे जिनका हिंदी से संबंध था।

भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धियाँ

हिंदी के उच्चकोटि के और बड़े महत्त्व के कवि इस काल में हुए हैं। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, रसखान आदि सभी इसी काल की शोभा थे। अपनी प्रतिभा और काव्य सर्जना की असीम प्रभावशाली दक्षता के कारण उन्होंने इस काल को सुशोभित किया है। भक्ति और काव्य का इतना उच्चकोटि का व्यामिश्रण और किसी काल में नहीं मिलता। रामभक्ति काव्य के महात्मा तुलसीदास ने तपस्वी बाल्मीकि द्वारा प्रचलित रामकथा को अपने ढंग से प्रस्तुत करके रामकथा का सर्वजन सुलभ स्वरूप पैदा किया। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की–विनयपत्रिका, रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली आदि उनमें से प्रमुख हैं।

कृष्ण भक्त कवियों के सिरमौर अंधे सूर ने अपने बंद नेत्रों से ब्रह्म को माया के संबंध से रहित देखकर शुद्धाद्वैत समर्थित विचारों को भगवान सम्मत सूरसागर में अभिव्यक्त किया। ब्रजभाषा का महा महत्त्व का सूरसागर कृष्ण भक्ति का आकार ग्रंथ है। भागवत पुराण से प्रभाव लेकर अपनी मौलिकता और मेंधा से और कवित्व शक्ति से बड़े निखरे रूप में प्रस्तुत किया। सूरदास की सूक्ष्मेंक्षण शक्ति बड़ी अद्‌भुत थी। बाललीला का वर्णन करके उन्होंने ऐसा साहित्य उभारा जो सहज ही रस चुबिनी कोटि में रखा गया और वात्सल्य को रसत्व सिद्ध करने में अतीव सहायक रहा। शृंगार का संयोग वियोग गोपियों के माध्यम से व्यक्त करे रसनीय काव्य प्रदान किया। उन्हें वात्सल्य और शृंगार रस का सम्राट कहा जाता है। सूर के सामने राधा संबंधी साहित्य था जिसका सूर ने रसमय प्रयोग किया। रूप गोस्वामी महाराज के 'भक्तिरसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वलनील मणि' इस तरह की गहराई के बेहद प्रशंसनीय ग्रंथ हैं।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में कृष्ण काव्य लिखने वाले अपरिमित कवि मिल जायेंगे लेकिन उनमें जो स्थान सूर को मिला, वह किसी अन्य को नहीं मिल सकता है। सूरसागर सूर की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना है। सूर के सागर में प्रेम की उत्ताल तरंगे सदैव तरंगायित होती रहती हैं। सूर की दृष्टि पैनी थी। वे अपने युग के समाज के प्रति पूर्णतः सचेत रचनाकार थे।

भक्तिकालीन साहित्य में तुलसी का प्रादुर्भाव एक युगान्तारी घटना है। इनमें कारयित्री प्रतिभा का अद्‌भुत सामंजस्य देखा जा सकता था। तुलसी का लोकानुभव अत्यन्त व्यापक था। वे सच्चे अर्थों में व्युत्पन्न कवि थे। तुलसी एवं सूर जैसे समाज के दिशावाहक, प्रेरणास्रोत एवं महिमामंडित कवि कभी-कभी इस धरती पर जन्म लेते हैं। जिस काल में इस प्रकार के महिमामंडित कवि एवं रचनाकार उत्पन्न हुए हों वह काल अवश्य ही उपलब्धियों से भरा होगा।

भक्तिकालीन समय में हिंदी साहित्य के महान् रचनाकार उत्पन्न हुए। इन्होंने न केवल अपनी रचना-धर्मिता, काव्य-लालित्य, अलंकरण और भाषा भाव से राष्ट्र एवं समाज की प्रतिष्ठा बढाई, अपितु लोक चेतना को अद्‌भुत संजीवनी प्रदान की है। ऐसी लोक चेतना से समाज को दिशा प्राप्त है। इस प्रकार से समाज धीरे-धीरे दासत्व से मुक्ति, भौतिकता से अध्यात्म, अविपरीत अंधकार से प्रकाश तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर जाने में समर्थ होता है।

जिस समय उत्तर भारत में नाथों और सिद्धों की अंतस्साधना प्रचलित हो चुकी थी, उसी समय दक्षिण भारत में आलवार भक्तों की भावधारा भी प्रवाहित हो रही थी जिसका समर्थन वहाँ के वैष्णव आचार्यों द्वारा किया गया। दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की स्थापना करने वाले रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी और निम्बार्क के चार महान् आचार्य हुए। इनके प्रयास से वैष्णव धर्म की पावन धारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित होने लगी। भक्ति के आचार्यों एवं भक्त कवियों की प्रेरणा से भक्तिकाल में चार मुख्य धाराओं का उदय हुआ-संत काव्यधारा, सूफी काव्यधारा, कृष्णकाव्यधारा एवं राम काव्यधारा। भक्ति आन्दोलन के परिणामस्वरूप हिंदी में ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई जिसमें काव्य कला का चरम विकास दिखायी देता है। भारतीय धर्म साधना एवं चेतना के इतिहास में हिंदी संत काव्य का प्रमुख स्थान हैं। धर्म, साधना एवं लोक जीवन के निर्मल स्वरूप को विकृत तथा विषम बनाने वाले तत्त्वों की इन कवियों ने तीव्र स्वर में आलोचना की।

लोककल्याण के नाम पर प्रसारित आडम्बर, अनाचार एवं बह्यचारों की निंदा करते हुए संतों ने उसकी निस्सारता प्रमाणित की। संतों के कण्ठों से प्रस्फुटित ये वाणियाँ मंदाकिनी के दृश्य मानवता का मंगल पार्थ्य बनीं। संतों की दृष्टि में कवि एवं कवि कर्म सामान्य नहीं था। इन्होंने अपने संदेशों एवं उच्चादर्शों के प्रचार हेतु काव्य को माध्यम बनाया। हिंदी साहित्य में संत काव्य ने साहित्य एवं कला की अभिनव मान्यताएँ संस्थापित की।

अपने तत्कालीन युग की धार्मिक विसंगति को दूर कर इन संतों ने सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित किया। इन्होंने हिन्दू एवं मुस्लिम के संघर्ष से पीड़ित मानव के हृदय में यह भरने का पुष्ट प्रयत्न किया कि राम-रहीम, केशव-करीम में भिन्नता नहीं है। धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है औदार्य, करूणा से मुक्त होना, दया एवं सहिष्णुता का विकास करना। समाज, धर्म और संस्कृति के विकास एवं उत्थान की दृष्टि से संतों का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। संतों का लक्ष्य बड़ा ही व्यापक रहा है। इन्होंने जीवों के निस्तार के लिए उच्चादर्शों के उपदेश दिए। मानव को कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करना ही इनका उद्देश्य था। वे संसार को सुखी एवं प्रसन्नचित देखना चाहते थे। इसलिए इन्होंने सामाजिक परिवेश को सुधारने का सतत् प्रयास किया। संतों का मत था कि सद्गुण एवं नैतिक शक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक होती है इसीलिए इन्होंने मानव में मानसिक शक्ति बढ़ाकर उत्साह भरने की चेष्टा की। स्पष्टतः इन्होंने नैतिकतापूर्ण मानवतावाद का समर्थन किया जिससे जनता में आर्थिक उदारता और विनम्रता आई।

संत साहित्य सामाजिक प्रगतिशीलता का प्रतीक है। प्रत्येक दृष्टि से यह साहित्य प्रगतिशीलता के रंग में अनुरंजित है। काव्य के अंतरंग-बहिरंग पक्षों में तत्कालीन संत कवि पूर्णतः प्रगतिशील हैं। भाषा, भाव, रस, छंद, आदि की दृष्टि से उन्होंने ऐसे प्रयोग किये जो उनके युग की मान्यताओं को पुष्टता, प्रदान करते हैं। इनके द्वारा सुझाये गये विचार भविष्य के लिए मानदंड बन गये। अतः स्पष्ट है कि इन संतों ने जिस साहित्य की रचना की, वह सच्चे अर्थों में जन-साहित्य है। भाषा एवं विचार-बोध की दृष्टि से वह शुद्ध रूप से लोक की वस्तु है। अपनी वाणी के द्वारा संतों ने देश को एक महान् सांस्कृतिक जाल से बाँध दिया।

सूफी काव्यधारा भक्तिकाल की एक महत्त्वपूर्ण धारा है। इसको प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से भी जाना जाता है। भक्तिकाल को स्वर्ण युग बनाने में इस धारा के कवियों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा है। सूफी मत इस्लाम धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाली एक प्रमुख धारा का नाम है, जिस पर कुरान का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। दिल्ली के शासक किसी न किसी सूफी साधक के शिष्य बनते थे और उसे विशेष सम्मान देते थे। मुगल-राज्य के विस्तार के साथ-साथ सूफियों का भी प्रसार होता गया।

हिंदी में प्रचलित प्रेमाख्यानों की हृदयग्राही परम्परा के द्वारा उन्होंने जनता के मध्य अपने विचारों का प्रचार किया। अकबर के युग तक सूफीमत प्रेम एवं

भक्ति पर आधारित होकर सर्वमान्य हो चुका था। धीरे-धीरे इस मत में भारतीय संगीत, नृत्य, देवोपासना की भावना आदि का प्रवेश होता चला गया।

साहित्यिक दृष्टि से हिंदी सूफी काव्य का विशेष महत्त्व है। इन सूफी कवियों ने सुंदर प्रबन्ध काव्यों की रचना की है। इनकी कथा का आधार पौराणिकता पर आधारित प्रसंग और घटनाएँ हैं। इनका संयोग-वियोग तथा नख-शिख वर्णन अत्यन्त आकर्षक है। इनके द्वारा रचित प्रेमाख्यानों का उद्देश्य मनोरंजन कम आध्यात्मिक प्रचार अधिक माना गया है। कथा रूढ़ियों के स्रोत भारतीय और भारतीयेत्तर दोनों रहे हैं। सूफी काव्य परम्परा के लगभग समस्त प्रेमाख्यानकों की सामान्य विशेषताएँ प्राय: एक जैसी रही हैं, लेकिन इनमें से कुछ कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं तथा हिंदी साहित्य का भक्तिकाल समाज पर लम्बा प्रभाव छोड़ जाती हैं। जायसी की अमरकृति 'पद्मावत' भी इसी तरह की कृति रही है।

जायसी से पूर्व की सभी प्रेमकथाएँ कल्पित थीं। जायसी ने अपने ग्रंथ 'पद्मावत' में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय कथा को अपनी कल्पना से रसासिक्त कर अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। जायसी की नागमती का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ विरह वर्णन माना जाता है। जायसी ने लोक संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों को अपने काव्य में रखकर एक ओर तो काव्यात्मकता की रक्षा की है और दूसरी ओर लोक संस्कृति को जीवित रखने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

कृष्ण काव्य में कृष्ण का उपास्यरूप महाभारत, हरिवंश विष्णु पुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराणों में विस्तार से मिलता है। महाभारत, हरिवंश तथा विष्णुपुराण में वृष्णिवंशीय सात्वतकृष्ण के ऐश्वर्यमय रूप की प्रधानता है, वैसे तो भक्ति काल में कृष्ण काव्य लिखने वाले अपरिमित कवि हुए हैं, किन्तु इनमें सूरदास का स्थान सर्वप्रमुख रहा है। सूरदास की दृष्टि बड़ी तीव्र थी। वे अपने युग के सचेष्ट रचनाकार थे। यवनों के अत्याचार से आक्रांत जनता के मन से जब ईश्वर के प्रति विश्वास उठ चुका था, ऐसे समय में सूर ने ब्रज कुमारी द्वारा अपनी दर्व्य प्रेम संगीत द्वारा जीवन में आस्था जगाई और आशा का संचार किया।

सूर के कृष्ण सदैव सामान्य रहे हैं, विशिष्ट नहीं, चाहे वे राजा नंद के पुत्र रहे हों चाहे स्वयं राजा। सूर की वह जीवन-दृष्टि कितनी स्पृहणीय है जिसमें आज की तरह कहीं भय और तनाव नहीं है, है जो केवल मुरली की मधुर ध्वनि, नाचना-गाना, खेल और मनोविनोद। यहाँ नगरीय जीवन की चमक-दमक नहीं है।

कालिन्दी का सुंदर कूल है। सूर का काव्य समाज को नव जीवन की प्रेरणा देता है। कोई भी जीवन से ऊबता नहीं है। सूर की भाषा ब्रज भाषा है इन्होंने ही सर्वप्रथम ब्रज भाषा को एक सुव्यवस्थित साहित्यिक भाषा के रूप में अपनी रचनाओं में स्थान दिया। वास्तव में जो लालित्य और मोहकता ब्रज भाषा में है, वह किसी अन्य भाषा में नहीं है। शृंगार रस के लिए तो ब्रजभाषा के समकक्ष कोई भाषा ही नहीं ठहरती। इसकी शब्दावली बड़ी ही समृद्ध है। सूर ने ब्रजभाषा को जनभाषा, धार्मिक भाषा तथा साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया है।

उत्तर भारत में राम भक्ति के प्रचार का श्रेय स्वामी रामानन्द को जाता है। रामानुज के श्री सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी उन्होंने रामावत् सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। रामानुजाचार्य ने विष्णु के अन्य रूपों में रामरूप को तथा अन्य भक्तिभावों में दास्य को विशेष महत्त्व दिया।

हिन्दी साहित्य जगत में तुलसी का प्रादुर्भाव एक युगान्तरकारी घटना है। इसमें कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा का अद्‌भुत सामंजस्य था। इनका अध्ययन जितना गंभीर था, लोकानुभव उतना ही व्यापक-विशाल। राम-कथा के अनन्त स्रोतों का मंथन करके तुलसी ने जो मानस-नवनीत निकाला, उसकी स्निग्धता से भारतीय जन मानस ही नहीं, अपितु विश्व मानवता आज भी अर्पामित आनंद का अनुभव करती है। तुलसीदास हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक महिमावान कवि हैं। तुलसीदास ने राम के जिस रूप-स्वरूप की प्रतिष्ठा की उसमें अपरिमित शक्ति, शील एवं सौन्दर्य का अद्‌भुत सामंजस्य दिखाई देता है। इन विशेषताओं में मानव की सम्पूर्ण उदात्तता समाहित हो गयी है।

तुलसी की भक्ति पद्धति सेवक-सेव्य भाव की है। राम-नाम के प्रति पूर्ण विश्वास के साथ जीवन की समग्र नैतिकता के आधार पर वे भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण घटक सिद्ध हुए। सम्पूर्ण उत्तर भारत में जितना आदर उनके 'रामचरितमानस' को मिला, उतना इग्लैंड में बाइबिल को भी नहीं मिला होगा। तुलसीदास ऐसे महान् देवदूत हैं जो रामानंद के सिद्धान्त को पूर्व से पश्चिम तक ले गये तथा उसे स्थिर विश्वास में परिणत किया।

3

रीति काल में हिन्दी साहित्य का विकास

यूं तो भक्तिकाल में ही कृपाराम ने 'हिततंगिणी' और नंददास ने 'रस-मंजरी' लिख कर हिंदी में लक्षण ग्रंथों का सूत्रपात कर दिया था। लेकिन केशव को ही हिंदी का सर्वप्रथम रीति-गंथकार स्वीकार किया जाता है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक प्रिया' ग्रंथ लिख कर हिंदी में रस और अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया था, किंतु केशव के बाद लगभग 50 वर्ष तक रीति ग्रंथों की परम्परा में और कोई कवि नहीं आया। बाद में जो लोग इस परम्परा में आए भी, उन्होंने केशव की प्रणाली को नहीं अपनाया। इसलिए कुछ आलोचक केशव को सर्वप्रथम आचार्य स्वीकार करने में संकोच करते हैं।

केशव के बाद इस क्षेत्र में आचार्य चिंतामणि आए। उन्होंने 'पिंगल', 'रस-मंजरी' 'श्रृंगार-मंजरी' और 'कवि-कल्पतरु' की रचना कर इस विषय का व्यापक प्रतिपादन किया। उनका विवेचन अत्यंत सरल एवं स्पष्ट है। इसके बाद आने वाले कवियों ने भी इन्हीं की शैली को अपनाया। इसलिए प्रायः इन्हें ही हिंदी साहित्य में रीति-ग्रंथों का सूत्रपात करने वाला प्रथम आचार्य स्वीकार किया जाता है।

इनके अनन्तर तो हिंदी में लक्षण-ग्रंथ लिखने वालों की भरमार-सी हो गई। रीतिकाल के प्रायः सभी कवियों ने लक्षण-ग्रंथ लिखे। चिंतामणि के समय में ही मतिराम और भूषण ने अपने लक्षण-गंथ प्रस्तुत किए। इनके बाद इस क्षेत्र में देव कवि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रीतिकाल के लोकप्रिय कवि बिहारी

लाल ने यद्यपि स्पष्ट रूप से लक्षण-ग्रंथ नहीं लिखा, तथापि उनकी 'बिहारी सतसईष्में रीति ग्रंथों की परम्परा का निर्वाह हुआ है। अलंकार,रस,ध्वनि आदि सबके उदाहरण इसमें उपलब्ध होते हैं।

तत्पश्चात सुरति मिश्र, श्रीपति तथा सोमनाथ के नाम आते हैं। इस परम्परा के अन्तिम कवि हैं-भिखारीदास और पद्माकर। भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' और 'शृंगार-निर्णय' ग्रंथ लिखे। इनकी विवेचना में मौलिकता के दर्शन होते हैं। पद्माकर ने 'पद्माभरण' एवं 'जगद्-विनोद' ग्रंथ लिखे। ये दोनों ग्रंथ अपने विषय की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

आधुनिक युग में भी कुछ लक्षण-ग्रंथ लिखे गए हैं। इनमें शास्त्रीय विवेचन की प्रधानता है। लक्षण गद्य में लिखें गए हैं और उदाहरण के लिए कवियों के पद्य उपस्थित किए गए हैं। इससे विवेचन में स्पष्टता आ गई है।

रीति शब्द की व्याख्या

'रीति' शब्द संस्कृत के काव्यशास्त्रीय 'रीति' शब्द से भिन्न अर्थ रखने वाला है। संस्कृत साहित्य में रीति को 'काव्य की आत्मा' मानने वाला एक सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्र' में किया था- 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति काव्य की आत्मा है और काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी रीति है, यह मान्यता इस सिद्धान्त की है। वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी, लाटी रीतियाँ हैं। रीति का आधार गुण है। संस्कृत की रीति सम्बन्धी यह धारणा हिन्दी काव्यशास्त्र के कुछ ही ग्रन्थों में ग्रहण की गयी है। परन्तु रीति की काव्य रचना की प्रणाली के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा प्रणाली के अनुसार काव्य रचना करना, रीति का अर्थ मान्य हुआ। इस प्रकार रीतिकाल का अर्थ हुआ- 'ऐसा काव्य जो अलंकार, रस, गुण, ध्वनि, नायिका भेद आदि की काव्यशास्त्रीय प्रणालियों के आधार पर रचा गया हो।' इनके लक्षणों के साथ या स्वतंत्र रूप से इनके आधार पर काव्य लिखने की पद्धति ही रीति नाम से विख्यात हुई और यह पद्धति जिस काल में सर्वप्रधान रही, वह काल 'रीतिकाल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नामकरण

रीतिकाल 1700 से 1900 तक का काल है। मोटे तौर पर मुगल बादशाह शाहजहाँ के शासन की समाप्ति और औरंगजेब के शासन के प्रारम्भ (1658 ई)

से लेकर प्रथम स्वाधीनता संग्राम (1857 ई.) तक यह काल माना जाता है। इस युग में भक्तिकालीन काव्यधाराओं, जैसे सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदि का विकास हुआ। परन्तु सबसे अधिक महत्त्व उसी रीतिकाव्य को प्राप्त हुआ, जो अलंकारों, रसों, नायिका-भेदों, शब्द-शक्तियों, ध्वनि-भेदों आदि के आधार पर लिखा गया। यह प्रतृत्ति इस युग की नवीन चेतना के रूप में जाग्रत हुई। इस कारण इसी के आधार पर यह नामकरण हुआ।

समृद्धि और विलासिता का काल

रीतिकाल समृद्धि और विलासिता का काल है। साधना के काल भक्तियुग से यह इसी बात में भिन्नता रखता है कि इसमें कोरी विलासिता ही उपास्य बन गयी, वैराग्यपूर्ण साधना का समादर न रहा। नवाब, जागीरदार, मनसबदार, सामन्त-सभी का उद्देश्य विलासिता और समृद्धि का जीवन था। इस समृद्धि के जीवन के लिए साधन किसी भी प्रकार के क्यों न हों, समृद्धि का अर्जन ही सामर्थ्य की सार्थकता थी। ये उच्च वर्ग के लोग कला और कविता के संरक्षक थे। कुछ तो स्वयं कवि एवं कलाकार थे। इस प्रकार इस काव्य में ऐहिक जीवन के सुख-भोग पर बल दिया गया। यह जीवन की क्षणभंगुरता को भुलाकर नहीं, वरन् इसलिए कि इस क्षणभंगुर जीवन में जितने ही दिन सुख-भोग के बीत सकें, उतना ही अच्छा।

श्रृंगारिक साहित्य

सजाव- श्रृंगार की एक अदम्य लिप्सा इस युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित है। उपासना के लिए जिन राम और कृष्ण का चरित्र भक्तिकाल में अत्युत्कृष्ट रूप में चित्रित हुआ, उनमें भी श्रृंगारिकता का आरोप कर श्रृंगारिक स्वरूप के उद्घाटन में प्रतिभा को लगाया गया। लोकेषणा का सीमित और भोग्य रूप इस काल के यथार्थवादी धरातल का संकेत करता है। पर यह यथार्थवाद सामाजिक क्रान्ति के बीज बोने वाले आधुनिक यथार्थवाद से भिन्न था। वह कला और कारीगरी का यथार्थ है, चिंता, ठेस, असन्तोष की चिनगारी बिखेरने वाला यथार्थ नहीं। इस काल की कलात्मक उपलब्धियों में एकरसता है, विविधता नहीं।

रीतिकालीन परिवेश

रीतिकालीन प्रवेश को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है–

ऐतिहासिक परिवेश

हिंदी साहित्य के इतिहास में संवत् 1700 से 1900 तक का समय था जब भारत में मुगलों का राज्य था। मुगलों के वैभव-विलास और विजय-वृत्तान्त के अनेक उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय बादशाहों का उत्कर्ष चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ था। शासक समर्थ थे और जैसे ही युद्ध से अवकाश मिलता था, वैसे ही विलासिता में डूबे जाते थे। इसका परिणाम यह भी हो रहा था कि जिस शासन को अकबर ने अपनी नीति से दृढ़ बनाया और जहाँगीर ने भी अच्छी तरह संभाला वह शाहजहाँ के समय से मुगल-काल उत्कर्ष के बिन्दु से नीचे गिरने लगा था।

मध्ययुग में समाज सामन्तवादी पद्धति का था। उच्च वर्ग के राजा और सामन्तों का जीवन, वैभव से पूर्ण था। दिल्ली के अनुकरण पर छोटे-छोटे राजाओं में भी वैभव-विलास की प्रवृत्ति थी। उपवन और रमणीय विहार-स्थल उस समय के समाज के लिए वंदनीय थे। पुष्प, इत्र, गंध, फव्वारे और अन्य विलास सामग्री राजा और सामन्तों को तृप्ति देती थी। इस तरह के समाज का कवियों की रचनाओं पर भी असर पड़ा। रीतिकाल में निम्न वर्ग का जीवन सदा की भाँति उपेक्षित था। उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। कवि और कलाकारों का वर्ग राजा लोगों के यहाँ रहता था जो वैसे ही उच्च आशाएँ-आकांक्षाएँ रखता था।

तत्कालीन समय में मुगलों की उत्तराधिकार की नियमहीनता ने अशांति और संघर्ष का वातावरण बना दिया। देश के अन्य भागों में भी इसी तरह के विद्रोह और संघर्ष के तेवर बढ़ रहे थे। अकबर के राजपूत सहयोगी नीति को औरंगजेब ने ध्वस्त करके जयपुर पर अधिकार किया तो मरवाह और मेवात सभी मुगलों के विरुद्ध हुए संघर्ष करते रहे। शाहजहाँ के समय में स्थापत्य-कला की विशेष उन्नति हुई, दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, मोती मस्जिद, दीवाने आम, ताजमहल आदि उसकी वास्तु कलाप्रियता के प्रमाण हैं।

सामाजिक परिवेश

रीतिकालीन काव्य की रचना भी सामाजिक परिवेश सम्राट के आतंक और जनसाधारण के दैन्य की परिस्थिति है। राजा बादशाह का प्रभुत्व लिए शासक वर्ग

था जो शासन को चलाने वाले थे, दूसरे गरीब किसान, व्यापारी, दुकानदार थे। इतिहासकारों ने इन्हें क्रमशः योद्धा वर्ग और उत्पादक वर्ग कहा है। इस समय का एक समाज मुगलों का परिवार और उनके दरबारी सामन्तों का था। बहुमूल्य आभूषण, हीरे, जवाहरात, रत्न, माणिक, स्वर्ण, रजत आदि के बेहद प्रयोग से ऐश्वर्य का पता चलता था। स्त्रियों के आभूषण और इत्र, फुलेल, शृंगार प्रसाधनों का जिस दरबार में प्रसार था उसने उस समय के कवियों को काव्य में तरह-तरह की साज-सज्जा को चित्रित करने की एक दृष्टि अच्छी प्रकार दे रखी थी।

शृंगार और वैभव विलास सुरा-सुराही के ऐसे चित्रण रीतिकाव्य में इसी से बड़े स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। वैभव विलास के इस समाज में क्रीड़ा और मनोविनोद के तत्कालीन प्रचलित साधनों की कमी नहीं थी।

इस काल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति दयनीय थी। वे पुरुष की सम्पत्ति अथवा भोग्या मात्र थीं। किसी कन्या के अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। बेगमों और रक्षिताओं की अगिनत संख्या के होते हुए भी लोग वेश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे-उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में यह घोर पतन का युग था।

सांस्कृतिक परिवेश

रीतिकाल में देश की धार्मिक-सांस्कृतिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के कारण हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। भक्तिकाल में काव्य की जो चार धारायें प्रारम्भ हुई थीं वे किसी न किसी रूप में इस युग में भी विद्यमान थीं किन्तु उनकी आध्यात्मिक गरिमा संत और भक्त कवियों की अपने उपास्य के प्रति अनन्य निष्ठा, स्वान्तः सुखाय काव्य-रचना का संकल्प, राजकीय वैभव की उपेक्षा और लोकमंगल की भावना धीरे-धीरे समाप्त हो रही थी। संत कवियों की बाह्याचार विरोधमूलक वृत्ति और सूफियों के प्रेम की पीर का कुछ प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ा था। इस आलोच्यकालीन युग में भी पुरानी परम्परा के सूफी तथा संत विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी

जैसा व्यक्तित्त्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जन-जीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे। इस युग में रामकाव्य-धारा की पूर्व परम्परा एक प्रकार से अवरुद्ध-सी हो गयी थी और उसमें जो रसिक सम्प्रदाय पनप रहा था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम एक-दूसरे के विरुद्ध होने लगे थे। वैष्णव सम्प्रदायों के मठाधीश राजाओं और सामन्तों को गुरुदीक्षा देने में गौरव का अनुभव करने लगे थे मन्दिरों में अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। जनता के अन्धविश्वासों का लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और धर्म स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गए थे।

साहित्यिक परिवेश

साहित्य और कला की दृष्टि से यह युग काफी समृद्ध था इस काल के कवि और कलाकार यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति थे, तथापि उन्हें अपने आश्रयदाता मुगल-सम्राटों या देशी नवाबों से इतना सम्मान मिलता था कि समाज के सम्मानित लोगों में उनकी गिनती की जाती थी। मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी शैली मजदूं आदि की रोमानी कहानियाँ भी निबद्ध हो रही थीं। जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिंदी साहित्य पर परिलक्षित होता है। शाहजहाँ आत्म-प्रशंसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। ब्रजभाषा जन-जीवन के निकट होते हुए भी फारसी के प्रभाव से न बच सकी। विलासी आश्रयदाताओं की वासना को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई श्रृंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का ऐसा ही प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। परन्तु संयोग से ये कवि चमत्कार के उपकरणों के लिए फारसी की ओर उन्मुख न होकर संस्कृत की ओर उन्मुख हुए।

प्रदर्शन-प्रधान रीतिकालीन चित्रकला नायक-नायिकाओं की बंधी-बंधाई प्रतिकृतियाँ तैयार होती रहीं। उस समय की चित्रकला की नायक-नायिकाओं के रूढ़िबद्ध चित्र, पौराणिक कथाओं पर आधारित चित्र तथा राग-रागनियों के प्रतीक चित्रों का बाहुल्य है। काव्य और चित्रकला के अलावा इस युग में स्थापत्य-कला और संगीत कला का भी विशिष्ट स्थान रहा। मुगल सम्राट शाहजहाँ को यद्यपि संगीत का अच्छा ज्ञान था। शाहजहाँ ने जितनी इमारतें बनवायीं, उन सबमें सूक्ष्म सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस काल में कवियों और कलाकारों को

राजाश्रयों में यथोचित सम्मान प्राप्त होने के कारण साहित्य और कला की स्थिति कुल मिलाकर अच्छी रही।

रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ

लक्षण ग्रंथों का निर्माण– रीतिकाल की सर्वप्रमुख विशेषता लक्षण-ग्रंथों का निर्माण है। यहाँ काव्य-विवेचना अधिक हुई। कवियों ने संस्कृत के लक्षण ग्रंथकार आचार्यों का अनुकरण करते हुए अपनी रचनाओं को लक्षण-ग्रंथों अथवा रीति ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि रीति निरूपण में इन कवियों को विशेष सफलता नहीं मिली। प्रायः इन्होंने संस्कृत-ग्रंथों में दिए गए नियमों और तत्त्वों का ही हिंदी पद्य में अनुवाद किया है। इनमें मौलिकता और स्पष्टता का अभाव है।

श्रृंगार-चित्रण– रीतिकाल की दूसरी बड़ी विशेषता श्रृंगार रस की प्रधानता है। इस काल की कविता में नारी केवल पुरुष के रतिभाव का आलम्बन बनकर रह गई। राधा कृष्ण के प्रेम के नाम पर नारी के अंग-प्रत्यंग की शोभा, हाव-भाव, विलास चेष्टाएँ आदि में श्रृंगार का सुंदर और सफल चित्रण हुआ है, किंतु वियोग वर्णन में कवि-कर्म खिलवाड़ बन कर रह गया है। श्रृंगार के आलंबन और उद्दीपन के बड़े ही सरस उदाहरणों का निर्माण हुआ।

वीर और भक्ति काव्य – रीतिकाल में अपनी पूर्ववर्ती काव्य-धाराओं वीर और भक्ति के भी दर्शन होते हैं। भूषण का वीर काव्य हिंदी साहित्य की निधि है।

नीति काव्य – नीति काव्य इस युग की एक नई देन है। इस क्षेत्र में वृन्द के नीति दोहे और गिरधर की कुंडलियाँ तथा दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

प्रकृति चित्रण–रीतिकाल में प्रकृति-चित्रण उद्दीपन रूप में हुआ है। स्वतंत्र और आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण बहुत कम रूप में हुआ है। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि दरबारी कवि का, जिसका आकर्षण केन्द्र नारी ही था, ध्यान प्रकृति के स्वतंत्र रूप की ओर जा ही कैसे सकता था। इनके काव्य में प्रकृति का बिम्बग्राही रूप नहीं मिलता। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण भी परम्परागत है। फिर भी सेनापति का प्रकृति-चित्रण प्रशंसनीय है।

ब्रजभाषा का उत्कर्ष – यह काल ब्रजभाषा का स्वर्णयुग रहा। भाषा में वर्णमैत्री, अनुप्रासत्ज, ध्वन्यात्मकता, शब्दसंगीत आदि का पूरा निर्वाह किया गया है। भाषा की मधुरता के कारण मुसलमान कवियों का भी इस ओर ध्यान गया।

इसमें अवधी, बुन्देलखंडी, फारसी के शब्दों को मिलया गया और कवि ने अपने भावानुकूल बनाने के लिए इसके शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा। यह शक्ति भूषण और देव में विशेष रूप से थी। कोमल कांत पदावली में देव और पद्माकर ने तुलसी को पीछे छोड़ दिया है। लेकिन भाषा को अत्यधिक कोमल तथा चमत्कारिक बनाने के कारण उसमें कई दोष भी आ गए।

आलंकारिकता– रीतिकाव्य की एक अन्य प्रधान प्रवृत्ति आलंकारिकता है। इसका कारण राजदरबारों का विलासी वातावरण तथा जन-साधारण की रुचि थी। कवि को अपनी कविता भड़कीले रंगों में रंगनी पड़ती थी। बहुत सारे कवियों ने अलंकारों के लक्षण उदाहरण दिए, लेकिन बहुतों ने केवल उदाहरण ही लिखे, जबकि उनके मन में लक्षण विद्यमान थे। अलंकारों का इतना अधिक प्रयोग हुआ कि वह साधन न रहकर साध्य बन गए, जिससे काव्य का सौंदर्य बढ़ने की अपेक्षा कम ही हुआ। कभी-कभी केवल अलंकार ही अलंकार स्पष्ट होते हैं और कवि का अभिप्रेत अर्थ उसी चमत्कार में खो जाता है। यह दोष रीतिकालीन काव्यों में प्रायः दिखाई पड़ता है। केशव को इसी कारण कठिन काव्य का प्रेत कहा जाता है।

काव्य-रूप–रीति काल में मुक्तक-काव्य रूप को प्रधानता मिली। राजाओं की कामक्रिडा और काम-वासना को उत्तेजित करने एवं उनकी मानसिक थकान को दूर करने के लिए जिस कविता का आश्रय लिया गया, वह मुक्तक ही रही। अतः इस काल में कवित्त और सवैयों की प्रधानता रही। कवित्त का प्रयोग वीर और श्रृंगार रसों में तथा सवैयों का श्रृंगार रस में हुआ। बिहारी ने दोहा छंद के सीमित शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करने की कला को विकसित किया। काव्यांगों के लक्षण प्रायः दोहों में ही लिखे जाते थे। कभी-कभी उदाहरण भी दोहों में दिए गए। वैसे भी, धैर्य तथा एक-रसता के अभाव में प्रबंध-काव्य का सृजन असम्भव था। फिर भी, कुछ अच्छे प्रबंध-काव्य लिखे गए। जैसे गुरु गोविन्द सिंह का चंडी-चरित्र, पद्माकर का हिम्मत बहादुर विरुदावली, लालकवि का छत्र-प्रकाश आदि।

रीतिकालीन दरबारी संस्कृति

रीतिकालीन दरबारी संस्कृति सांस्कृतिक अवन्ति से परिपूर्ण समय था। इसमें संस्कृति का विचार पक्ष बड़ा दुर्लभ था। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ही बादशाहों के दरबारों में अद्भुत वैभव तो था, लेकिन अतृप्त विलास और वासना

का सागर भी उमड़ रहा था। औरंगजेब तो इन दोनों से विलग था। उसका संस्कृति और विलास-वैभव के प्रक्षय से कुछ भी लेना-देना नहीं था। रीतिकालीन के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य नर के रूप में चित्रित न करके दिव्य और अलौकिक गुणों से मंडित करके चित्रित किया है। कवियों ने राजाओं को अवतारी पुरुष के रूप में महिमा-मंडित किया है। भूषण ने अपने आश्रयदाता शिवाजी को कहीं विष्णु को और कहीं राम का अवतार माना है।

साहित्य, संस्कृति और सांस्कृतिक जीवन तक ही सीमित रह गया। साहित्य पूरे समाज का चित्र नहीं बन सका था। संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में भी लक्षण ग्रन्थ परम्परा दिखाई पड़ती है। हिंदी साहित्य की रीतिपरम्परा की प्रधान प्रेरणा, संस्कृत काव्यशास्त्र ही रहा है। निस्संदेह, लक्षण काव्य परम्परा के लिए हमें संस्कृत के साथ अपभ्रंश और प्राकृत की समृद्ध परम्परा के अवदान को भी सहज रूप में स्वीकार करना चाहिये। यही परम्परा आगे चलकर रीतिकाव्य में प्रतिफलित हुई है। रीतिकालीन लक्षण परम्परा के असंख्य कवि हुए हैं।

रीतिकाल में अनेक लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें अलंकरण शास्त्र प्रमुख है इस शास्त्र में उत्तम कविता के उदाहरणों में सैकड़ों सरस श्लोक उद्धृत किए गये हैं। इस शास्त्र की आरम्भ में दो स्पष्ट धाराएँ विद्यमान थीं। एक नाट्यशास्त्र में प्रकट हुई थी जिसका प्रधान प्रतिपाद्य 'रस' था दूसरी, चिंता अलंकार शास्त्र के रूप में प्रकट हुई जिसका पद्य विवेच्य विषय अलंकार थे। इन दो सम्प्रदायों को एकत्र करने का काम ध्वनि, सम्प्रदाय के पंडितों ने किया। रीतिकालीन हिंदी कवियों तथा आचार्यों की मुख्य प्रवृत्ति लक्षण ग्रन्थों को रचने अथवा संस्कृत के काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों को लक्षण तथा उदाहरणों से स्पष्ट करने की रही।

रीतिकालीन कवियों ने प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य शैली को अधिक महत्व दिया। तत्कालीन आश्रयदाताओं को तुरंत प्रसन्न करने के लिए मुक्तक काव्य शैली का खूब प्रसार हुआ। इस काल के कवियों ने रीति या शास्त्र की भूमिका पर अपनी कविता लिखी है। केशवदास ने सर्वप्रथम शास्त्रीय पद्धति पर रस और अलंकारों का निरूपण 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया' में किया, किन्तु चिन्तामणि त्रिपाठी से लक्षण ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चलती रही। इन ग्रन्थों में रीतिबद्ध कवियों ने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है, वरन् संस्कृत के काव्यशास्त्र के विवेचन को भाषा में पद्यबद्ध कर दिया है, केवल लक्ष्य ग्रन्थ

लिखने वाले कवियों ने रीति का कसाव कुछ ढीला कर दिया है। किन्तु फिर भी रीति की परिपाटी का ज्ञान हुए बिना इनकी कविता को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता है।

रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति

रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति दोनों को एक-दूसरे का पूरक माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। वास्तव में, दरबारी संस्कृति ही रीतिकालीन काव्य का आधार है। रीतिकालीन काव्य में चित्रित दरबारी संस्कृति का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशस्ति – रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता राजप्रशस्ति रही थी। इस कालखण्ड में राजप्रशस्ति के तीन आयाम हैं–युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर। भूषण ने महाराज शिवाजी के माध्यम से युद्धवीरता का सर्वोच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया है। वैसे जो छत्रपाल की वीरता के वर्णन के लिए भूषण विख्यात हैं, लेकिन मतिराम ने भी इस प्रसंग और पात्र को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया है। रीतिकालीन रचनाकारों ने राजा के धर्मवीर रूप की चर्चा भी की है। भूषण ने शिवाजी के प्रशस्ति वर्णन के माध्यम से उनके धर्मवीर स्वरूप की विवेचना की है।

दिव्यता और अलौकिकतायुक्त आश्रयदाता – रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य नर के रूप में वर्णित न करके दिव्य और आलौकिक गुणों से सम्पन्न करके वर्णित किया है। कवियों ने उन्हें अवतारी पुरुष के रूप में भी महिमा-मंडित किया है। महाकवि भूषण ने अपने आश्रयदाता शिवाजी को कहीं विष्णु और कहीं राम का अवतार माना है।

भूषण के अलावा अन्य रीतिकालीन कवियों ने भी अपने-अपने आश्रयदाताओं में दिव्यता की प्रवृत्तियों को प्रमुखता से स्थान दिया है। कविवर पद्माकर को अपने आश्रयदाता जगतसिंह के रूप में राम और कृष्ण के अवतारों की प्रतीति होती है।

राजरुचि का विवरण–कवियों, कलाकारों, दस्तकारों आदि को आश्रय देना दरबारी संस्कृति की राजरुचि थी। आजमशाह ने देव को आश्रय दिया, सुजानसिंह ने सूदन को पारछीत ने ठाकुर को राजभोगी लाल ने देव को, दलेल सिंह ने थान कवि को तथा ललन ने बनी प्रवीन को आश्रय दिया था।

श्रृंगार-निरूपण और शास्त्र-निरूपण उस युग की काव्य-प्रवृत्ति थी। इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में राजाओं की श्रृंगारिक रुचि विद्यमान थी और उनकी शास्त्रीयता के प्रति आग्रह थी।

रीतिकालीन साहित्य की आलोचना दृष्टि

हिंदी साहित्य के इतिहास में संवत् 1700 से 1900 के मध्य को रीतिकाल या उत्तर-मध्यकाल के नाम से जाना जाता है। हिंदी साहित्य का यह काल, जिसे रीतिकाल कहा जाता है, महत्त्वपूर्ण युग होने के साथ-साथ सबसे उपेक्षित युग भी रहा है। इस युग के साहित्य पर आरंभ से ही तरह-तरह के आरोप लगते आ रहे हैं। रीतिकालीन साहित्य के प्रति उपेक्षा की शुरुआत रीतिमुक्त कवि ठाकुर से ही हो जाती है –

लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो हैं।
एति झूठी जुगति बनावे और कहावे कवि॥

हम पाते हैं कि इस तरह से इस काव्य के प्रति एक नकारात्मक दृष्टि उभरती चली जाती है। रीतिकालीन साहित्य पर विभिन्न आलोचकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। अनेक ग्रंथ भी लिखे गये हैं। कुछ आलोचकों ने इसे अत्यंत हेय दृष्टि से देखा है तो कुछ आलोचकों का यह भी प्रयास रहा है कि रीतिकालीन साहित्य की विशिष्ट उपलब्धियों की ओर ध्यान आकृष्ट करवाया जाये। यूँ तो हिन्दी आलोचना को सम्यक् आकार देने तथा उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को दिया जाता है, लेकिन रामचंद्र शुक्ल से पूर्व हिन्दी आलोचना का विकास करने वाले आलोचकों में मिश्र-बंधु, पद्मसिंह शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, लाला भगवान दीन, कृष्णबिहारी मिश्र आदि का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने रीतिकाव्य पर अपना दृष्टिकोण प्रदर्शित किया तथा रीतिकालीन कविता पर पर्याप्त वाद-विवाद किया।

इन आलोचकों में सर्वप्रथम मिश्रबंधुओं की बात की जाए तो हम पाते हैं कि मिश्रबंधुओं की आलोचना दृष्टि का आधार छंद, अलंकार, रस, नायक-नायिका भेद आदि था। मिश्रबंधुओं ने रीतिकाल को 'अलंकृत' काल कहा। अलंकृत काल के भी वे दो भाग करते हैं-पूर्वालंकृत काल तथा उत्तरलंकृत काल। उनका मानना है कि "जिस प्रकार सूरदास और तुलसीदास के समय में कृष्ण और राम-भक्ति की धारा उमड़ी, उसी प्रकार भूषण और देव के काल में उत्साह और वीरता की धारा उभर कर आई। मिश्र-बंधु पूर्वालंकृत काल के कवियों को भाषा-साहित्य

के आचार्य कहते हैं इनमें देव, भूषण, मतिराम, चिंतामणि, श्रीपति, कवीन्द्र, जसवंत सिंह, सूरति मिश्र, रसलीन, कुलपति और सुखदेव मिश्र के नाम आते हैं। इस काल के कवि भाषा को अलंकृत करने में सिद्धहस्त थे। उनका मानना है कि इस काल में भाषा अलंकृत हुई, वीर एवं श्रृंगार की वृद्धि रही, आचार्यत्व में परिपक्वता आई, भक्ति एवं कथा-प्रसंग शिथिल पड़े और काव्योत्कर्ष की संतोषदायक उन्नति हुई। यह समय हिन्दी के लिए बड़े गौरव का काल हुआ। मिश्रबंधुओं ने भिखारीदास, सोमनाथ, रघुनाथ, सेवक, ठाकुर, बोधा देवकीनंदन, ग्वाल, तोष तथा पजनेस आदि को श्रृंगारी कवि माना है। उनका मानना है कि उत्तरलंकृत काल में काव्य रचना करने वालों में कुछ को छोड़कर उत्तमता नहीं है। मिश्रबंधु विनोद में वे लिखते हैं कि "उत्तरलंकृत काल में भाषा भूषणों से लद गयी, श्रृंगार-कविता खूब बनी, आचार्यता बढ़ी, कथा-प्रासंगिक प्रथा ने धर्म से संबद्ध करके बल पाया, साधारण कथा-प्रासंगिक ग्रंथ भी रचे गए और खड़ी बोली ने गद्य में भी जड़ पकड़ी। परमोत्कृष्ट कवियों का इस समय अभाव सा रहा, परंतु उत्कृष्ट कवियों की मात्र अन्य सभी समयों से विशेष रही, भाषा-माधुर्य के सम्मुख भाव-संकुचन हुआ एवं महाराजाओं में काव्य-प्रेम स्थिर रहा।"

मिश्रबंधु बेनीप्रवीन काल को साहित्य के उत्कर्ष में गिरावट का काल मानते हैं। वे पद्माकर काल को साहित्य की दृष्टि से उच्च मानते हैं। उनके अनुसार "पद्माकर काल अल्पकालीन ही है, परंतु इसमें अनेक सुकवि, कथाकार तथा वैष्णव सत्कवि हुए हैं। इस काल में साहित्य की अच्छी उन्नति हुई। संवत् 1875 में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें भारत में जम चुकी थीं अतः सर्वत्र शांति थी। इस समय में कोई उत्कृष्ट गद्य लेखक नहीं हुआ, परंतु हाँ, कविता के लिए यह समय अच्छा रहा।"

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' के संबंध में मिश्रबंधुओं की दृष्टि काल-सीमा, नामकरण आदि पर संक्षिप्त रही है तथा मिश्रबंधुओं ने छंद, रस, अलंकार, नायिका-भेद, गुण-दोष आदि की दृष्टि से ही आलोच्य कवियों और उनकी कृतियों पर विचार किया है।

आलोचक महावीर प्रसाद द्विवेदी नैतिकता के आधार पर रीतिकालीन कविता को खारिज करते हैं तथा वे उस पर प्रहार करते दिखाई पड़ते हैं-"नायिका भेद और कुछ नहीं बल्कि इसमें लिखा रहता है परकीया और वेश्याओं की चेष्टा और उनके कलुषित कृत्यों का उलक्ष उदाहरण" दूसरी तरफ द्विवेदी जी को कविता में श्रृंगार रस से कोई आपत्ति नहीं रही। श्रृंगार की जब बात होती है, तो द्विवेदी जी ये कहते

हैं कि-"शृंगार होने से ही कविता अश्लील नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता तो कालिदास की क्या गति होती? उनके तो प्रायः सभी काव्य और नाटक पढ़ने योग्य न समझे जाते।" आगे चलकर द्विवेदी जब मतिराम ग्रंथावली की जो समीक्षा की है, उसे पढ़कर तो एक बार पाठक ये सोचने को मजबूर हो जाये, कि 'नायिका-भेद' नामक लेख क्या द्विवेदी जी ने ही लिखा है? मतिराम ग्रंथावली की समीक्षा करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि-"आजकल की विशेष परिमार्जित रुचि को देखते मतिराम की कितनी ही उक्तियाँ अश्लील नहीं तो उद्वेगजनक जरूर ही हैं, परंतु जिस समय उनका जन्म हुआ था, उस समय वे वैसी न समझी जाती थीं। इस बात को हमें न भूलना चाहिए। पुराने कवियों की कृति का विचार करते समय उनके आविर्भाव काल और परिस्थिति का जरूर विचार करना चाहिए। यदि उन्होंने समयानुकूल रचना न भी की हो तो भी उनकी पुस्तकों का योग्यतापूर्वक संपादन करके उन्हें सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर देना विचारवान और साहित्य-हितैषी पुस्तक प्रकाशकों का कर्तव्य है। अतएव लखनऊ की गंगा पुस्तकमाला के मालिकों ने इस ग्रंथावली (मतिराम) का प्रकाशन करके अपने कर्तव्य का प्रशंसनीय पालन किया है।"

इस प्रकार महावीर प्रसाद द्वारा लिखित 'नायिका भेद' नामक निबंध के अंतर्गत् हमें एक तरफ रीतिकालीन जकड़न का परिचय प्राप्त होता है तो दूसरी तरफ हम पाते हैं कि द्विवेदी जी के यहाँ रीतिकालीन कविता के महत्त्व को अस्वीकार करने के बावजूद ऐसी बहुत सारी पंक्तियाँ बची रह गईं हैं जिनमें रीतिकालीन कविता की तारीफ की गई है।

पं. पद्मसिंह शर्मा शृंगार रस को मानव जीवन की अपरिहार्य और मूलभूत शक्ति मानते हैं तथा रीतिकालीन कविता की प्रशंसा डंके के चोट पर करते हुए प्रतीत होते हैं। रीतिकालीन कविता में नायिका-भेद की प्रासंगिकता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि-"शृंगार रस के काव्यों में परकीय आदि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितांत निदंनीय कहा जाता है, यह किसी अंश में ठीक भी हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीतिभ्रष्ट और कुरुचिसंपन्न बनाना नहीं होता। ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्त विटों की गूढ़ लीलाओं के दावघात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके-इस विषय में सतर्क रहें-यही ऐसे प्रसंग वर्णन का प्रयोजन है।"

लाला भगवानदीन 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक में बिहारी को देव से बड़ा कवि सिद्ध करने हेतु यह प्रयास किया है कि-"देव हिंदी के साहित्य को

बदनाम करने वाला प्रथम कवि है। धनलोलुप और विषय-वासना पूर्ण होने के कारण इसने मनोविज्ञान रूपी 'नायिक-भेद' जैसे उत्तम विषय को दिमाग खरोंच-खरोंच कर 'जाति-विलास' जैसा ग्रंथ लिखकर केवल स्त्री-भेद निरूपक विषय बनाने की बहुत बुरी चेष्टा की है।" दरअसल यह उनका बिहारी की तुलना में देव को हीन सिद्ध करना ही था। लाला भगवानदीन नायिका भेद का समर्थन तो करते हैं, लेकिन इसे मनोविज्ञान का विषय मानते हैं।

कृष्णबिहारी मिश्र कविता को आनंदवादी दृष्टि से देखने वाले आलोचक हैं। इन्होंने मतिराम ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है कि-"इसी प्रेम कविता (रीतिकालीन कविता) ने समय पाकर नारी-समाज के प्रति पुरुष-समाज के भावों पर बड़ा प्रभाव डाला।" आगे पतिव्रता स्त्री का आदर्श इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि-"आदर्श पतिव्रता स्वकीया को और क्या चाहिए? पति का बाल बांका न हो, तथा इसी से रमणी के सौभाग्य चिन्ह बने रहे, हिंदू ललना का अब भी यही आदर्श है।"

वस्तुतः हिंदी आलोचना की इस शैशवावस्था पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि इन्होंने रीतिकालीन कविता की अवहेलना की है। दरअसल इन आलोचकों का स्वर एक तो है, लेकिन इनका मत अपनी ही दी गईं धारणाओं के बीच उलझा हुआ प्रतीत होता है। इनके विचार में प्रशंसा और विषमता एक साथ दिखाई देती है। कारण जो भी हो निष्कर्ष इतना जरूर सामने आता है कि इन आलोचकों द्वारा जिन तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात हुआ, उसका आधार रीतिवादी काव्य सिद्धांत थे। ये आलोचक किसी भी सिद्धांत विशेष के प्रति आग्रहशील होने और अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि के कारण किसी भी कवि को श्रेष्ठ या हीन सिद्ध करने का प्रयास करते थे। इन आलोचकों ने रीतिकालीन काव्य की अंतर्वस्तु और शिल्प-पक्ष को सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का प्रयास नहीं किया तथा हिंदी आलोचक के इस शैशावस्था का रीतिकालीन साहित्य के मूल्यांकन करने का सारा आधार श्रृंगार और नायिका-भेद ही रहा। परिणामस्वरुप रीति-साहित्य का अन्य पक्ष उपेक्षित मात्र रह गया।

हिंदी आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आगमन के बाद हिंदी आलोचना का स्वरूप वह नहीं रहता है जो उनके आने से पहले था। शुक्ल जी की उपस्थिति सर्वप्रथम हिंदी आलोचना के परिदृश्य को बदल कर रख दिया। आचार्य शुक्ल विक्रमी संवत् 1700-1900 तक की कालावधि को उत्तर मध्यकाल व रीतिकाल के नाम से अभिहित करते हैं। नामकरण के आधार की

जो दृष्टि है उसका आधार उन्होंने उस काल-विशेष की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति को माना है। उनका मानना है कि "वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगारकाल कहे तो कह सकता है।" शुक्ल जी मानते हैं कि रीतिकालीन साहित्य की रचना सामंती परिवेश में हुई जिसके कारण बहुत सी साहित्यिक रूढ़ियाँ पनपती गईं। इसी कारण आलोचकों ने इसे दरबारी साहित्य भी कहा है। शुक्ल जी दरबारी कविता और काव्य-परंपरा का खंडन करते हैं। शुक्ल जी रीतिकालीन साहित्य में जीवन के इन विभिन्न पहलुओं का अभाव पाते हैं तथा कहते हैं कि-"इस परंपरा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा पड़ी। कवियों की दृष्टि एक प्रकार से बंधी और सीमित हो गईं। क्षेत्र संकुचित हो गया। कवियों की व्यक्तिगत विशेषताओं की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।"

आगे रीतिकालीन कविता का मूल्यांकन करते हुए शुक्ल रीतिग्रंथों के कर्ताओं को भावुक तथा सहृदय कवि मानते हैं तथा वे रीतिकाल के कवियों पर लिखते हुए उनकी व्यक्तिगत प्रतिभा तथा उनके कवि कर्म के अनेक आयामों की सराहना करते हैं। वे लिखते हैं कि-"इन रीतिग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अत: उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों, विशेषकर श्रृंगार रस और अलंकारों के बड़े ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए।" इस प्रकार देखा जाये तो शुक्ल जी रीतिग्रंथकारों की कवि-प्रतिभा और देन को स्वीकार करते हैं।

रीतिकालीन श्रृंगारिक कविता के सबसे हिमायती आलोचक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र अपने आलोचना ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग-II' के अंतर्गत सिर्फ साहित्य और कला की दृष्टि से रीतिकाव्य की सार्थकता सिद्ध करते दिखाई देते हैं। उन्होंने लिखा है-"सच पूछा जाए तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कवि इस युग में जितने अधिक हुए हिन्दी साहित्य के सहस्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने वाले कभी नहीं हुए। आधुनिक काल में भी नहीं। हिन्दी का सच्चा साहित्य-युग कोई था तो वस्तुत: यही था।"

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का आलोच्य ग्रंथ पढ़ते समय ध्यान देने योग्य बात यह है वे रीतिकाल को साहित्य की दृष्टि से सबसे समृद्ध काल तो

मानते हैं, लेकिन उनमें शृंगारिक कविता की सामाजिक सोद्देश्यता को लेकर संकोच का भाव विद्यमान है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा मिश्र जी से आगे बढ़कर जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि का अध्ययन करें तो पता चलता है कि द्विवेदी जी ने रीतिकाल को 'रुग्ण मनोभाव' का काल माना है। उनका कहना है कि-"विलासिता जब चित्रगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ले जाती है, मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा-विकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्रगत संकीर्णता के साथ संबद्ध हो गयी। इसीलिए इस काल की शृंगार-भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।"

आगे चलकर द्विवेदी जी रीतिकालीन नारी के विषय में लिखते हैं-"नारी की विशेषता इनकी दृष्टि में कुछ नहीं है, वह केवल पुरुष के आकर्षण का एक केंद्र-भर है। उसका सामाजिक अस्तित्त्व मानो कुछ है ही नहीं! इतना होते हुए भी रीतिकाल के कवि एकांतिक शृंगारी नहीं है। उनकी रचना में गृहस्थी का भरपूर रस है, परंतु गृहस्थी में नारी केवल एक 'टाईप' है, व्यक्ति नहीं।"

रीतिकालीन साहित्य के आलोचना के क्रम में दूसरी तरफ द्विवेदी जी रीतिकालीन कविता को लौकिक साहित्य परंपरा से समृद्ध मानते हैं। उनका कहना है कि-"इससे अधिक स्फूर्तिदायक और लोकजीवन को समझने में सहायक साहित्य मेरी जानकारी में दूसरा नहीं मिलता, नायिका भेद के संकीर्ण सीमा में जितना लोक चित्र आ सका वह विशिष्ट और मनोरम है।"

इसी संदर्भ में जब डॉ. नगेन्द्र की रीतिकालीन साहित्य के प्रति आलोचना दृष्टि का समग्रता में अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि उन्होंने आचार्य शुक्ल की भांति ही रीतिकालीन कविता की तटस्थ आलोचना की है तथा उनका मूल्यांकन भी तथ्यों पर आधारित है। डॉ. नगेन्द्र की मान्यता है कि रीतिकाल का उचित मूल्यांकन 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' और 'काव्य ही जीवन की समीक्षा है' के भेद को समझते हुए ही किया जा सकता है। यदि 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम' तथा 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम' की कसौटी पर रीतिकाव्य को परखा जाये तो यह काव्य उपेक्षा या तिरस्कार का काव्य नहीं लगेगा। समस्त रीतिकाव्य को नैतिक मूल्य की कसौटी पर कसना वे उचित नहीं मानते लेकिन वे इतना मानते हैं कि अपने युग की आत्मघाती निराशा को प्रकट करने के लिए इस युग के कवियों ने प्रशंसनीय कार्य किया।

डॉ. नगेन्द्र कहते हैं-"घोर पराभाव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इनमें संदेह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था-उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अत: उसके द्वारा प्राप्त आनंद भी उतना उदात्त नहीं था। काव्य-वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है, और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है, फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें संदेह नहीं इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी।"

हिंदी साहित्य के प्रगतिशील आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा रीतिकाल की कड़ी आलोचना करते हैं। उन्होंने रीतिकाल को सामंती पृष्ठभूमि पर लिखा साहित्य कहा है। वे रीतिकाव्य को वर्ग-विशेष काव्य मानते हैं तथा उसे एक संकुचित काव्य मानते हैं। उनका एक निबंध है 'रीतिकालीन परंपरा', जिसमें उन्होंने रीतिकालीन साहित्य की चर्चा की है। वे ऐसा मानते हैं कि उस युग के कवियों ने अलंकारों को चमत्कार की हद तक घटित किया है। रस के प्रति उनमें कहीं आकर्षण दिखलाई नहीं देता। उन कवियों ने प्राय: नायिका भेद का वर्णन करने के लिए ही शृंगार रस की कवितायें लिखीं हैं।

इसी संदर्भ में डॉ. शर्मा 'परंपरा के मूल्यांकन' नामक पुस्तक के अंतर्गत भी रीतिकाव्य के साथ न्याय करना नहीं भूलते। वे लिखते हैं कि-"यह काव्य ऐसा नहीं है कि सब का सब उठाकर कूड़े के ढेर में फेंक दिया जाए। इसका कारण यह है कि अनेक अच्छे कवि युग की परिस्थितियों से बहुत कुछ मजबूर होकर सामंती अभिरुचि के अनुकूल कविताएँ लिखते रहे थे, पर इनमें सभी कवि घटिया नहीं हैं, न एक ही कवि की सभी रचनाएँ घटिया हैं।"

डॉ. शर्मा रीतिकालीन साहित्य की व्याख्या विवेचन करने के क्रम में रीतिकाल की आलोचना व्यवस्थित रूप में की है। वे रीतिकालीन साहित्य की कमियों एवं उपलब्धियों को रीतिकालीन प्रवृत्ति के आधार पर ही प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं।

डॉ. बच्चन सिंह रीतिकालीन काव्य को दरबारी काव्य मानते हैं और लिखते हैं-"रीतिकालीन कवि सचेत रूप से कविता लिख रहे थे। जो उनके जीविकोपार्जन से जुड़ी हुई थी। प्रत्योलब्धि राजाओं, महाराजाओं, सामंतों, जागीरदारों से ही हो सकती थी। इनमें से कुछ स्वयं कविता करते थे और काव्य

प्रेमी थे और कुछ के लिए कवि दरबार की शोभा थे। कवि लोग कविता के सौदागर थे। सौदागरी पूंजीवाद के युग का प्रादुर्भाव हो चुका था। देव ने 'सुकवि' को कविता का सौदागर कहा है। इस सौदागर कवि ने भागीलाल जैसे रईस से 'लाखनि खरचि रचि आखर खरीदे हैं, पद्माकर डंके की चोट पर कहते हैं-'आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं।"

डॉ. भगीरथ मिश्र रीतिकालीन आश्रयदाताओं के संबंध में लिखते हैं-"उस युग के लिए आश्रयदाता की प्रशंसा कला और काव्य दोनों के संरक्षण के लिए किन्हीं अंशों में आवश्यक थी। काव्य और कला के लिए किसी-न-किसी प्रकार का संरक्षण अभिप्रेत होता है। रीतिकाल के लिए यह विशेष रुप से सत्य था। उस समय यदि कविता, संगीत, चित्र आदि कलाओं को राजाश्रय प्राप्त न हो तो इनका विकास तो रुक ही जाता ये सुरक्षित भी नहीं रह सकती थीं। अतएव थोड़ी-बहुत प्रशंसा के द्वारा उस समय के कवियों और कलाओं ने राजाओं और सामंतों से कलात्मक और साहित्यिक विकास का परिपोषण प्राप्त किया।" वे आगे लिखते हैं कि "यदि उस युग के कवि को राजाश्रय न मिला होता तो रीति-युग में कला और काव्य का इतना विकास भी नहीं हो सकता था। उस समय की अनेक कलाकृतियाँ राजाश्रय के कारण न केवल निर्मित हुईं, वरन् सुरक्षित भी रह सकीं। ऐसी दशा में कला और साहित्य के आश्रय के मूलाधार के प्रति यदि कवियों ने प्रशंसात्मक शब्द लिखे तो वह उस युग को देखते हुए कोई अपराध नहीं था।"

डॉ. मिश्र आश्रयदाताओं एवं दरबारों की भव्यता के समान ही कविता में भी इस प्रकार की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक मानते हैं। उनके अनुसार "उस युग में काव्य के अंतर्गत चमत्कार का विशेष महत्त्व था। वह दरबारों का युग था जहां तड़क-भड़क और चमत्कार प्रदर्शन विशेष रूप से दिखलाई देता है। दरबार में रहने वाले और आने वाले कवियों और कलाकारों के मध्य अपने को बढ़कर सिद्ध करने के लिए चमत्कार आवश्यक था। यह चमत्कार प्रदर्शन उनकी प्रतिभा का एक मार्ग था। इसके परिणामस्वरूप हमें रीतिकाव्य के अंतर्गत चमत्कारिक रचनाएँ अधिक मिलती हैं, जिनमें कला का एक वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। यह सत्य है कि इनमें अनुभूति की अपेक्षा कलात्मक चमत्कार अधिक है फिर भी अभिव्यक्ति को सौष्ठव प्रदान करने का प्रयत्न इन रचनाओं में देखा जा सकता है। चमत्कारिक विशेषता को हम दोष के रूप में नहीं देख सकते। विशेष रूप से उस अलंकरण और सजावट-प्रधान काल में इसे एक गुण के रूप में ही देखना चाहिए।" साथ ही मिश्र जी रीतिकाल में रूढ़िवादिता के विरुद्ध भी अपनी

प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं-"एक ही प्रकार के प्रसंगों और विषयों पर इस युग के कवियों ने अपनी रचनाएँ लिखी हैं। ऐसी बात नहीं है कि उनमें वैविध्य न हो, परंतु परिपाटी-बद्धता उनमें अवश्य मिलती है जिनका मूल कारण यह था कि इस युग के कवि अपने लिए एक शुद्ध काव्य का मार्ग निकालना चाहते थे। अतएव परिपाटी का अनुगमन इस समग्र युग की विशेषता है और ध्यान से देखें तो थोड़े-बहुत रूप में यह रूढ़िबद्धता सभी युगों के काव्य में दिखलाई देती है।"

भगीरथ मिश्र रीतिकालीन काव्य को लोक जीवनाभिमुखी मानते हैं। उनके अनुसार "यह नहीं कहा जा सकता कि रीतियुग का काव्य जीवन और उसकी प्रगति से विमुख था। वरन् इसके विपरीत सत्य यह है कि यह काव्य पूर्ववर्ती भक्तियुग के काव्य से अधिक लोक-जीवनाभिमुखी था।"

निष्कर्षत: विभिन्न आलोचकों की रीतिकालीन दृष्टि को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के सभी इतिहासों के क्रमिक अध्ययन करने के पश्चात् रीतिकालीन मूल्यांकन को ध्यान से पढ़ा जाए तो उन आलोचकों की आलोचना दृष्टि में एक खास तरह का तनाव दिखाई पड़ता है। रीतिकालीन साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता पर संदेह और उसके कलात्मक सौष्ठव की प्रशंसा करना ये दोनों बातें इन आचार्यों के यहाँ एक साथ दिखाई पड़ती है। यदि कोई चाहे तो हिंदी के इन आचार्यों के लेखन से ऐसी पंक्तियाँ चुनकर, जिनके इस साहित्य की आलोचना की गई है, इन्हें रीति-विरोधी सिद्ध कर सकता है। यही नहीं, दूसरी तरफ इन्हीं आचार्यों के लेखन में ऐसी पंक्तियाँ भी खूब सारी मिलती हैं, जिनके सहारे इन्हें कोई रीतिकालीन साहित्य के समर्थक के रुप में पेश कर सकता है।

विभिन्न आलोचकों द्वारा रीतिकालीन काव्य की समीक्षा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। किसी ने उसे महज एक श्रृंगारिक काव्य माना और उसका विवेचन केवल उसी पक्ष के आधार पर किया और कुछ आलोचकों ने रीतिकाव्य की आलोचना श्लीलता-अश्लीलता से परे भिन्न आधारों पर की। शुक्ल पूर्व आलोचकों द्वारा रीतिकाव्य की आलोचना अधिकतर काव्यशास्त्रीय आधार पर ही की गयी। हालांकि शुक्ल जी के समय में और उनके पश्चात् स्थिति में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। अब रीतिकालीन काव्य को केवल एकांगी दृष्टिकोण से नहीं देखा जाता बल्कि उसके अन्य पक्षों पर भी विचार किया जाने लगा। सभी आलोचकों की आलोचना दृष्टि का अध्ययन करने से इनके भिन्न-भिन्न आधारों का पता चलता है।

लेकिन ये आलोचक भी रीतिकालीन साहित्य को किन्तु और परंतु के साथ ही मूल्यांकित करते हैं। दरअसल बीसवीं सदी के हिंदी के आचार्य साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता पर जोर देने लग गये थे। वे ये मानते थे कि सामाजिक परिवर्तन में साहित्य को अपनी सचेत भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। इस भूमिका का निर्वाह करके ही साहित्य अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकता है। यही कारण है कि ये आलोचक भी जब रीतिकालीन साहित्य का मूल्यांकन करते हैं तो एक तरफ इसे साहित्य और कला की दृष्टि से समृद्ध काल मानते हैं वहीं दूसरी तरफ इस साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता के प्रति निराशा अभिव्यक्त करते हैं।

हिंदी साहित्य में रीतिकालीन मूल्यांकन को लेकर जो एक विवाद है और इन विवादों में जो एक खास प्रकार का तनाव दिखाई देता है इसी के तरफ इशारा करते हुए विजयदेव नारायण साही कहते हैं–"रीति कविता की जीवनी–शक्ति और उनके औचित्य के बारे में काफी शंकाएँ उठाई गयी हैं। कभी उसकी नैतिकता को लेकर तो कभी उसकी रूढ़िवादिता को लेकर और अक्सर इसलिए कि यह सारा काव्य दरबारी और सामंती है। उँगली उठाने वालों में क्या आदर्शवादी, क्या यथार्थवादी, क्या 'भारतीय संस्कृति' वादी और क्या कम्युनिस्ट धर्मनिरपेक्षतावादी सभी रहे हैं।"

4

भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य का विकास

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के प्रथम चरण को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा प्रदान की गई है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। भारतेन्दु का व्यकितत्त्व प्रभावशाली था, वे सम्पादक और संगठनकर्ता थे, वे साहित्यकारों के नेता और समाज को दिशा देने वाले सुधारवादी विचारक थे, उनके आसपास तरुण और उत्साही साहित्यकारों की पूरी जमात तैयार हुई, अतः इस युग को भारतेन्दु-युग की संज्ञा देना उचित है। डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि 'प्राचीन से नवीन के संक्रमण काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयता के प्रतीक थे, वे भारतीय नवोत्थान के अग्रदूत थे।

जिस समय खड़ी बोली गद्य अपने प्रारिम्भक रूप में थी, उस समय हिन्दी के सौभाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की आपस में विरोधी शैलियों में समन्वय स्थापित किया और मध्यम मार्ग अपनाया।

इस काल में हिन्दी के प्रचार में जिन पत्र-पत्रिकाओं ने विशेष योग दिया, उनमें उदन्त मार्तण्ड, कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन अग्रणी हैं। इस समय हिन्दी गद्य की सर्वांगीण प्रगति हुई और उसमें उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि विधाओं में अनूदित तथा मौलिक रचनाएं लिखी गयीं।

नामकरण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल का अंतर्विभाजन साहित्यिक विधा गद्य-पद्य के आधार पर मुख्य रूप से गद्य और काव्य रचना (पद्य) दो भागों में विभाजित किया है। पुनः इन दोनों उप विभागों के चार-चार प्रकरण किए हैं। प्रकरणों का पुनर्विभाजन उत्थानों में किया गया है। भारतेन्दु युग से गद्य के प्रकरण 2 के प्रथम उत्थान तथा काव्य रचना के प्रकरण 2 के नई धारा (प्रथम उत्थान) को अभिहित किया है। आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु के महत्व को गद्य-पद्य दोनों में बराबर रूप से स्वीकारा है।

डॉ. नगेन्द्र को युग विशेष को व्यक्तिगत नाम देना रुचिकर नहीं लगा इसलिए उन्होंने लिखा है–"शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः शुक्ल जी का अनुगमन किया। कुछ लोगों ने आधुनिक काल के विकास के प्रथम दो चरणों को भारतेंदु युग और द्विवेदी युग कहना अधिक संगत समझा। किंतु, इन नामों की ग्राह्यता को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।''

अंतिम वाक्य को संदर्भित करते हुए पाद टिप्पणी में लिखा है–

भारतेंदु-युग और द्विवेदी युग की परिकल्पना कर लेने पर युगों की बाढ़ आ गईं। भारतीय हिंदी-परिषद्, प्रयाग से प्रकाशित 'हिंदी साहित्य' (तृतीय खंड) में उपन्यासों के संदर्भ में 'प्रेमचन्द युग' और नाटकों के संदर्भ में 'प्रसाद युग' की कल्पना की गईं है। पता नहीं, समीक्षा के संदर्भ में शुक्ल युग क्यों नहीं लिखा गया? जितने संदर्भ उतने युग!"

डॉ. नगेंद्र भारतेंदु या द्विवेदी पर नाक-भौं चढ़ाते हैं तथा कहते हैं कि शुक्ल युग कहना औचित्यपूर्ण नहीं है। क्यों नहीं है क्या नई दिल्ली में दिवंगत प्रधानमंत्रियों के नाम पर स्थलों की क्या बाढ़ नहीं आ गईं है? आधुनिक काल में विश्वविद्यालय का नाम स्थल के आधार न रखकर व्यक्ति विशेष के नाम पर नामकरण करने से कौन भी बाढ़ आ गईं है? यथा, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय, राजर्षि टंडन मुक्त विद्यालय, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, हेमवती नंदन बहुगुणा विश्वविद्यालय आदि। नगरों, सड़कों के नाम भी व्यक्तिगत रखे जाते हैं और वर्तमान में भी वही स्थिति है।

डॉ. नगेन्द्र इस युग को पुनर्जागरण काल (भारतेंदु काल) कहना श्रेयस्कर समझते हैं। नाम की कोई समस्या नहीं युग विशेष को कोई भी नाम दिया जा सकता है।

काल सीमांकन

नाम से अधिक इतिहासकारों ने काल सीमा में मतभेद स्थापित किए हैं–

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) के रचना काल को ध्यान में रखते संवत् 1925-1950 विक्रमी की अवधि नई धारा अथवा प्रथम उत्थान की संज्ञा दी है तथा इस काल को हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतित्त्व से समृद्ध माना है। किंतु शुक्ल जी द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ अन्य इतिहासकारों का वैमत्य है।
2. मिश्रबंधु-संवत् 1926-1945 वि. तक।
3. डॉ. राम कुमार वर्मा-संवत् 1927-1957 वि. तक।
4. डॉ. केशरी नारायण शुक्ल-संवत् 1922-1957 वि. तक।
5. डॉ. राम विलास शर्मा-संवत् 1925-1957 वि. तक।
6. डॉ. नगेन्द्र-सन् 1868 (1925 वि.)-1900 ई. तक।

इतिहासकारों ने भारतेन्द्र युग का प्रारंभ संवत् 1922-1927 वि. तक माना है। समाप्ति संवत् 1945-1957 वि. तक माना है। मेरी दृष्टि से भारतेंदु युग संवत् 1925-1957 वि. तक मानना श्रेयस्कर है।

भारतेन्दु युगीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

इस युग की अधिकांश कविता वस्तुनिष्ठ एवं वर्णनात्मक है। छंद, भाषा एवं अभिव्यंजना पद्धति में प्राचीनता अधिक है, नवीनता कम। खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था किन्तु कविता के क्षेत्र में ब्रज ही सर्वमान्य भाषा रही।

भारतेन्दुयुगीन कविता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

देश-भक्ति और राष्ट्रीय-भावना– इस काल की कविता की मुख्य प्रवृति देशभक्ति की है। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारत का शासन कंपनी के हाथ ब्रिटिश सरकार ने ले लिया था। जिससे जनता को शांति और सुरक्षा की आशा बँधी। इसलिए कविता में राज-भक्ति का स्वर सुनाई पड़ता है। इसमें ब्रिटिश शासकों की गुलामी के साथ-साथ देश की दशा सुधारने की प्रार्थना भी है। जैसे,

करहु आज सों राज आप केवल भारत हित,
केवल भारत के हित साधन में दीजे चित। (प्रेमघन)

इस युग के कवि देश की दयनीय दशा से उत्पन्न क्षोभ के कारण ईश्वर से प्रार्थना करते हैं–

कहाँ करुणानिधि केशव सोए?
जानत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए। (भारतेन्दु)

तो कहीं-कहीं उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए स्वतंत्रता का महत्व बताया है–

सब तजि गहौ स्वतंत्रता, नहिं चुप लातै खाव।
राजा करै सो न्याव है, पाँसा परे सो दाँव॥

जनवादी विचारधारा– भारतेन्दुयुगीन कविता की दूसरी प्रमुख विशेषता है- जनवादी विचारधारा। डॉ. रामविलास शर्मा के मतानुसार भारतेन्दु युग की जनवादी भावना उसके समाज-सुधार में समायी हुई है। इस युग का साहित्य भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न होकर उसमें सुधार चाहता था। इस युग के कवियों ने समाज के दोष युक्त अंग की आलोचना की है–

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

भारतेन्दु मेम-मेहरानी के बारे में कहते हैं–

का भवा, आवा है ए राम जमाना कैसा।
कैसी महरारू है ई, हाय जमाना कैसा।

भारतेन्दु युगीन कविता में साम्प्रत समाज की दशा का, विदेशी सभ्यता के संकट का, पुराने रोजगार के बहिष्कार का स्वर दिखाई देता है। इस युग में दो विचार-धाराएँ दिखाई देती हैं- 1.पुराणवादी परंपरा के समर्थकों की और 2. आधुनिक व्यापक दृष्टि वालों की। किन्तु भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग अपनाया था। भारतेन्दु ने सामाजिक दोषों, रूढ़ियों, कुरीतियों का घोर विरोध किया है। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले ढोंग की पोल खोल दी है। छुआछूत के प्रचार के प्रति क्षोभ के स्वर कवि में हैं। प्रतापनारायण मिश्र स्त्रियों की शिक्षा के पक्षपाती हैं, बाल-विवाह के विरोधी तथा विधवाओं के दुख से दुखी हैं।

प्राचीन परिपाटी की कविता– भक्ति और शृंगार-इस युग में प्राचीन परिपाटी की कविता का सृजन हुआ था। भक्ति और शृंगार की परंपराएं इस युग तक चलती रहीं, परिणाम भारतेन्दु तथा अन्य कवियों ने इसका अनुसरण किया। कुछ कवियों ने नख-शिख वर्णन किया तो कुछ ने दान-लीला, मृगया की रीतिकालीन पद्धति अपनायी। इस प्रकार इस युग की कविता में भक्ति, शृंगार एवं प्रेम-वर्णन के सुंदर नमूने मिलते हैं। जैसे,

ब्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रव जायैं सिर घीजै।। (भारतेन्दु)
साजि सेज रंग के महल में उमंग भरी।
पिय गर लागी काम-कसक मिटायें लेत।

उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों की तरह स्वरति, समरति, चित्ररति, वस्त्ररति, पपड़ीपन आदि यौन-विकृतियों के चित्र वर्णित किये हैं।

प्रेम-वर्णन- सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे।
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक बुरे।

कलात्मकता का अभाव– भारतेन्दुयुगीन कविता की चौथी मुख्य प्रवृत्ति है- कलात्मकता का अभाव। नवयुग की अभिव्यक्ति करने वाली यह कविता कलात्मक न हो सकी। जिसके कारण ये हैं-

(1) इस काल में विचारों का संक्रांति काल था जिसके कारण में इसमें कलात्मकता का अभाव रहा।
(2) इस युग में कवि समाचार-पत्रों द्वारा अपनी कविता का प्रचार करते थे, इसलिए उन्हें इसे काव्यपूर्ण बनाने की चिंता नहीं थी।
(3) भाषा का अस्तित्त्व और नागरी आंदोलन के कारण भी कविता कलात्मकता धारण न कर सकी। क्योंकि इस आंदोलन के लिए कवियों को जनमत जागरित करना था जो कि जनवाणी से ही संभव था।

कहने का मतलब यह है कि इस युग के कवि तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भाषा संबंधी समस्याओं में इतने व्यस्त थे कि वे नवयुग की चेतना को कलात्मक एवं प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त न कर सके और उसमें सर्वत्र यथार्थ की अनुभूति की सच्चाई सरल भाषा-शैली में अभिव्यक्त हुई। जैसे,

खंडन-मंडन की बातें सब करते सुनी सुनाई।
गाली देकर हाय बनाते बैरी अपने भाई।।
हैं उपासना भेद न उसके अर्थ और विस्तार।
सभी धर्म के वही सत्य सिद्धांत न और विस्तारो।।

काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग– इस काल की भाषा प्रमुख रूप से ब्रजभाषा ही रही। खड़ीबोली गद्य तक ही रही थी। किन्तु इस युग के अंतिम दिनों में खड़ीबोली में कविता करने का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण

द्विवेदी युग में कविता के क्षेत्र में खड़ीबोली का प्रयोग शुरू हो जाता है। बद्रीनारायण चौधरी, अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों ने भारतेन्दु काल में खड़ी बोली में कविता करने का प्रयास किया था। जैसे-

हमें जो हैं चाहते निबाहते हैं प्रेमघन,
उन दिलदारों से ही, मेल मिला लेते हैं। (प्रेमघन)

भारतेन्दु की खड़ी बोली का एक उदाहरण देखें-

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।

हम सब एक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार सबेरा है। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में खड़ी बोली में उच्चकोटि की रचना नहीं मिलती। इसका कारण स्पष्ट है कि इस युग ब्रज भाषा पर रिझे हुए थे। इस प्रकार भाव-व्यंजना का प्रधान माध्यम ब्रजभाषा ही रही।

हास्य-व्यंग्य एवं समस्या पूर्ति – इस युग में हास्य-व्यंग्यात्मक कविताएँ भी काफी मात्रा में लिखी गईं। सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों तथा पाश्चात्य संस्कृति पर करारे व्यंग्य किए गए। इस दृष्टि से प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र की रचनाएँ सर्वोत्तम हैं। समस्या-पूर्ति इस युग की काव्य-शैली थी और उनके मंडल के कवि विविध विषयों पर तत्काल समस्यापूर्ति किया करते थे। रामकृष्ण वर्मा, प्रेमघन, ब्रेनी ब्रज आदि कवि तत्काल समस्या-पूर्ति के लिए प्रसिद्ध थे।

प्राचीन छंद-योजना – भारतेन्दु युग में कवियों ने छन्द के क्षेत्र में कोई नवीन एवं स्वतंत्र प्रयास नहीं किया। इन्होंने परम्परा से चले आते हुए छन्दों का उपयोग किया है। भक्ति और रीति काल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा, छप्पय आदि छंदों का इन्होंने प्रयोग किया। जब कि जातीय संगीत का सादारम लोगों में प्रचार करने के लिए भारतेन्दु ने कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, गजल, श्रद्धा, चौती, होली, सांझी, लावनी, बिरहा, चनैनी आदि छन्दों को अपनाने पर जोर दिया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग में परम्परा और आधुनिकता का संगम है। कविता की दृष्टि से यह संक्रमण का युग था। कवियों के विचारों में परिवर्तन हो रहा था। परम्परागत संस्कारों का पूर्ण रूप से मोहभंग हुआ भी न था और साथ में नवीन संस्कारों को भी वे अपना रहे थे। काशी नवजारण का प्रमुख केन्द्र था और यहां का साहित्यिक परिवेश भी सर्वाधिक जागरुक था। तत्कालीन परिवर्तनशील सामाजिक मूल्यों का भी उन पर प्रभाव पड़ रहा था।

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अतः साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए। युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने अनूदित/मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है–

(1) विद्यासुन्दर (1868), (2) रत्नावली (1868), (3) पाखण्ड विखंडन (1872), (4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873),

(5) धनंजय विजय (1873), (6) प्रेम जोगिनी, (1874), (7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875), (8) मुद्राराक्षस (1875),

(9) कर्पूर मंजरी (1876), (10) विषस्य विषमोषधम् (1876), (11) श्री चन्द्रावली (1875), (12) भारत-दुर्दशा (1876),

(13) भारत जननी (1877) (14) नीलदेवी (1880), (15) दुर्लभ-बन्धु (1880), (16) अन्धेर नगरी (1881), (17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषध म्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्र्य' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्ज्वल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा श्रृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं।

'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:-

(क) पौराणिक धारा- इसकी तीन उपधाराएं- (1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत

'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा– ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा– भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरुकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा– रीतिकाल की श्रृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु– युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा– राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढ़ियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आंखों से देखा था। चारों ओर रूढिग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में

राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे।

उपन्यास

भारतेन्दु काल में हिन्दी की उप विधा का विकास हुआ। पण्डित बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' इस समय का उपदेश-प्रधान आदर्शवादी उपन्यास है। इसमें उस परिपूर्ण श्यामा-स्वप्न उपन्यास काव्य-सौन्दर्य से भरा हुआ है। अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त', बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रहमचारी' और राधाकृष्णदास का 'नि:सहाय हिन्दू' इस काल के अन्य उपन्यास हैं।

कहानी

कहानी का क्रमबद्ध विकास भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में केवल बंगला तथा अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद हुए। मौलिक रूप में जो कहानियां

लिखी गईं, उन पर इनका प्रभाव दिखाई देता है। भारतेन्दु जी ने एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न नामक कहानी लिखी, जिसे अधिकांश विद्वान हिन्दी की प्रथम साहित्यिक तथा मौलिक कहानी मानते हैं। सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ-साथ हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियां प्रकाश में आयीं। सरस्वती के प्रारम्भिक कहानी लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, पार्वतीनन्दन, बंग महिला, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ0 भगवानदास आदि प्रमुख हैं।

आलोचना

भारतेन्दु युग में गद्य के अन्य अंगों के साथ-साथ आलोचना विधा भी नया रूप धारण कर आगे बढ़ी। उसके स्वरूप और प्रकार में नये तत्त्वों का समावेश हुआ। साहित्यिक विवेचना में बौद्धिकता की प्रधानता हो गयी। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक आदि के साथ-साथ उनकी आलोचनाएं भी लिखी जाने लगीं। इस नवीन आलोचना के विकास में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख हाथ रहा। इस समीक्षा के प्रवर्त्तकों में भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्‌ट, श्री निवास दास, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अगिनहोत्री आदि प्रसिद्ध हैं।

'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्रिका के द्वारा प्रेमघन ने पुस्तकों की विस्तृत तथा गम्भीर आलोचना प्रारम्भ की। इन्होंने श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंवर नाटक की बड़ी विशद् और कड़ी आलोचना लिखकर प्रकशित की।

भारतेन्दु युग में निबंध

भारतेन्दु काल के वातावरण और परिस्थितियों से तो आप परिचित ही हैं। उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्‌ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी जैसे प्रमुख निबन्धकार हुए।

भारतेन्दु जी के निबन्ध भी अनेक विषयों पर हैं। 'काश्मीर कुसुम' 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह दर्पण'-ऐतिहासिक, 'वैद्यनाथ धाम', 'हरिद्वार', 'सरयू पार की यात्रा'-विवरणात्मक, 'कंकण स्तोत्र'-व्यंग्यपूर्ण वर्णनात्मक और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' विचारात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु सबसे अधिक सफल हुए अपने व्यंगात्मक निबन्धों में। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्त्रोत', 'कंकड़ स्तोत्र' आदि में गजब का हास्य-व्यंग्य है ही 'सरयू पार की यात्रा' में भी भारतेन्दु अपने व्यंग्य का

बढ़िया नमूना उपस्थित करते हैं। जैसे– वाह रे बस्ती। झक मारने बसती है। अगर बस्ती इसी को कहते हैं, तो उजाड़ किसे कहेंगे?

इनके निबन्धों की भाषा स्वच्छ और श्लेषपूर्ण है। कहीं-कहीं तो उर्दू की बढ़िया शैली भी आपने उपस्थित की। भाव और विचार की दृष्टि से युग की वे सभी विशेषताएं इनमें भी हैं जो भट्ट जी या प्रतापनारायण मिश्र में हैं।

बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहला सकते हैं। इन्हें हिन्दी का 'मान्तेन', कहा जाता है। भट्ट जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'मेला-ठेला', 'वकील'– वर्णनात्मक, 'आंसू', 'चन्द्रोदय', 'सहानुभूति', 'आशा माधुर्य', 'खटका'– भावात्मक 'आत्म-निर्भरता', 'कल्पना-शक्ति', 'तर्क', और 'विश्वास'– विचारात्मक निबन्ध हैं। 'खटका', 'इंगलिस पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो कमा खाय किसी भांति', 'मुछन्दर', 'अकल अजीरन राग' आदि निबन्धों में मस्ती, हास-परिहास, विनोद-व्यंग्य सभी कुछ हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और दैनिक व्यवहार की है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुकूल और अपने समय में सबसे अधिक मंजी हुई सबल और प्रभावशाली है। समाज, व्यक्ति, जीवन, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, हिन्दी–सभी विषयों पर आपने लिखा। जन-साहित्य को जन-भाषा में लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्र का नाम सर्वप्रथम आएगा। इनके व्यक्तित्त्व और निबन्धों में निराला आकर्षण है। लापरवाही, चुभता व्यंग्य, गुदगुदीभरा विनोद इनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। इस युग में इतनी चुलबुली भाषा लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। यह 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकालते थे, जिसमें इनके निबन्ध छपते थे। छोटे-छोटे विषयों पर इतने बढ़िया, मनोरंजन और उच्च उद्देश्य को लेकर किसी लेखक ने नहीं लिखा। 'नाक', 'भौंह', 'वृद्ध', 'दांत', 'पेट', 'मृच्छ' आदि विषयों को लेकर आपने अपने निबन्धों में मनोरंजन का सामान भी जुटाया और देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिन्दी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, आत्म-गौरव का सन्देश भी दिया। इनकी शैली में घरेलू बोलचाल की शब्दावली तथा पूर्वी बोलियों की कहावतों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। लापरवाही के कारण भाषा की अशुद्धयाँ रहना साधारण बात है। 'आत्मीयता', 'चिन्ता', 'मनोयोग' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं।

प्रेमघन जी अपने निरालेपन के लिए याद किए जाते हैं। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी बात साधारण समाज तक पहुंचे, उसका मनोरंजन हो या उसके विचारों में परिवर्तन हो। कलम की करामात दिखाना ही उनका उद्देश्य था। वह स्वाभाविक, प्रवाहमय, सुबोध भाषा नहीं लिखते। बल्कि शब्दों की जड़ाई

करते थे। भाषा बनावटी होते हुए भी उसमें कहीं-कहीं विवेचन की शक्ति पायी जाती है। आप 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र निकालते थे। इन्हीं में उनके निबन्ध छपा करते थे। इनके शीर्षक उनकी भाषा-शैली को प्रकट करते हैं जैसे सम्पादकीय, सम्पत्ति सीर, हास्य, हरितांकुर, विज्ञापन और वीर बधूटियां। 'हमारी मसहरी' और 'हमारी दिनचर्या' जैसे मनोरंजक लेख उन्हीं के लिखे हुए हैं। 'फागुन', 'मित्र', शत्तु-वर्णन उनके अच्छे निबन्ध हैं।

बावमुकुन्द गुप्त इस युग के अन्तिम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण निबन्धकार थे। 'शिवशम्भू' के नाम से 'भारतमित्र' में वह 'शिवसम्भू' का 'चिट्ठा' लिखा करते थे। हास्य-व्यंग्य के बहाने 'शिवशम्भू का चिट्ठा नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। उनका व्यंग्य शिष्ट और नागरिक होता था। भाषा मिली-जुली हिन्दी-उर्दू। राधाचरण गोस्वामी को भी इस युग के प्रगतिशील लेखकों में गिना जाएगा। 'यमपुर की यात्रा' में उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास का बहुत मजाक उड़ाया है। धार्मिक विचारों के लोग गाय की पूंछ पकड़कर वैतरणी पार करते हैं। इसमें कुत्ते के पूंछ पकड़कर वैतरणी पार कराई गई है। पहले ऐसी बात सोचना घोर पाप समझा जा सकता था।

भारतेन्दु-काल के निबन्धकारों की विशेषताएँ हैं – निबन्धों के विषयों की विविधता, व्याकरण-सम्बन्धी लापरवाही और अशुद्धियां, देशज या स्थानीय शब्दों का प्रयोग, शैली के विविध रूप और विचार-स्वतन्त्रता, समाज-सुधार, देश-भक्ति, पराधीनता के प्रति रोष आत्म-पतन पर खेद, देशोत्थान की कामना, हिन्दी-सम्मान की रक्षाभावना, हिन्दू, पर्व-त्यौहारों के लिए उत्साह और नवीन विचारों का स्वागत। निबन्ध की एक विशेष शैली भी इस युग की विशेषता है– 'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे हिन्द), एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न (भारतेन्दु) एक अनोखा स्वप्न (बालकृष्ण भट्ट), यमपुर की यात्रा (राधाप्रसाद गोस्वामी)– इन रचनाओं में स्वप्न के बहाने राजनैतिक अधिकार पाने, समाज सुधार तथा धर्म-संस्कार का संदेश दिया गया है।

जीवन एवं योगदान

हमें मालूम हो या न हो लेकिन यह सच है कि आज का हिंदी साहित्य जहां खड़ा है उसकी नींव का ज्यादातर हिस्सा भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनकी मंडली ने खड़ा किया था। उनके साथ 'पहली बार' वाली उपलब्धि जितनी बार जुड़ी है, उतनी बहुत ही कम लोगों के साथ जुड़ पाती है। इसलिए कई आलोचक

उन्हें हिंदी साहित्य का महान 'अनुसंधानकर्ता' भी मानते हैं। ऐसी महान विभूति का जन्म नौ सितंबर, 1850 को हुआ था।

हिंदी साहित्य को आधुनिक बनाया

भारतेंदु ने न केवल नई विधाओं का सृजन किया बल्कि वे साहित्य की विषय-वस्तु में भी नयापन लेकर आए। इसलिए उन्हें भारत में नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है। उनसे पहले हिंदी साहित्य में मध्यकाल की प्रवृत्तियां मौजूद थीं, इसलिए उनसे पहले का साहित्य दुनियावी जरूरतों से बिल्कुल कटा हुआ था। साहित्य का पूरा माहौल प्रेम, भक्ति और अध्यात्म का था। इसे अपने प्रयासों से उन्होंने बदल डाला. उन्होंने हिंदी साहित्य को देश की सामासिक संस्कृति की खूबियों के साथ-साथ पश्चिम की भौतिक और वैज्ञानिक सोच से लैस करने की भरसक कोशिश की।

आधुनिक विचार ईश्वर और आस्था की जगह मानव और तर्क को केंद्र में रखता है, इसलिए इसके प्रभाव में रचा गया साहित्य लौकिक जीवन से जुड़ा होता है। लेकिन उस समय का भारत गुलामी और मध्यकालीन सोच की जंजीरों में जकड़ा था। भारतेंदु पर भारतीय संस्कृति के अलावा आधुनिक और पश्चिमी विचारों का भी असर था। इसलिए वे साहित्य में बुद्धिवाद, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, न्याय और सहिष्णुता के गुण लेकर आए। उन्होंने अपनी लेखनी से लोगों में अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम की अलख जगाने का प्रयास किया। 1850 के आसपास के भारत में भ्रष्टाचार, प्रांतवाद, अलगाववाद, जातिवाद और छुआछूत जैसी समस्याएं अपने चरम पर थीं। हरिश्चंद्र बाबू को ये समस्याएं कचोटती थीं। इसलिए उन्होंने इन समस्याओं को अपने नाटकों, प्रहसनों और निबंधों का विषय बनाया। वे उन चंद शुरुआती लोगों में से थे जिन्होंने साहित्यकारों से आह्वान किया कि वे इस दुनिया की खूबियों-खामियों पर लिखें न कि परलोक से जुड़ी व्यर्थ की बातों पर। अपनी मंडली के साहित्यकारों की सहायता से उन्होंने नए-नए विषयों और विधाओं का सृजन किया। कुल मिलाकर उन्होंने पुरानी प्रवृत्तियों का परिष्कार कर नवीनता का समावेश करने की कोशिश की।

खड़ी बोली के सरल रूप को गद्य में स्थापित किया

आलोचकों की नजर में भारतेंदु हरिश्चंद्र का दूसरा सबसे बड़ा योगदान हिंदी भाषा को नई चाल में ढालने का माना जाता है। उनसे पहले हिंदी भाषा

में दो तरह के 'स्कूल' चलते थे। एक राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ हिंदी और दूसरा राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की फारसीनिष्ठ शैली का। दोनों ही शैलियां अपनी अति को छू रही थीं। एक हिंदी भाषा में संस्कृत के शब्दों को चुन-चुनकर डाल रही थी तो दूसरा फारसी के शब्दों को। हरिश्चंद्र बाबू ने इन दोनों प्रवृत्तियों का मिलन कराया। उन्होंने अपनी पत्रिका 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में 1873 से हिंदी की नई भाषा को गढ़ना शुरू किया। इसके लिए उन्होंने खड़ी बोली का आवरण लेकर उसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। वहीं तत्सम और उससे निकले तद्भव शब्दों को भी पर्याप्त महत्व दिया। इसके साथ ही उन्होंने कठिन और अबूझ शब्दों का प्रयोग वर्जित कर दिया। भाषा के इस रूप को हिंदुस्तानी शैली कहा गया। जिसे बाद में प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों ने आगे और परिष्कृत किया। हालांकि कविता में वे खड़ी बोली के बजाय ब्रज का ही इस्तेमाल करते रहे।

हिंदी नाटक और रंगमंच के प्रवर्त्तक भी

आलोचकों की नजर में भाषा के बाद भारतेंदु का सबसे बड़ा योगदान नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में रहा। उन्होंने पहली बार हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना की। अपने छोटे से जीवन में भारतेंदु ने मौलिक और अनूदित मिलाकर 17 नाटक रचे। इसके अलावा वे एक अच्छे अभिनेता भी थे लिहाजा रंगमंच में भी उन्होंने कई प्रयोग किए। इसलिए उन्हें हिंदी का पहला आधुनिक नाटककार और मौलिक नाट्य चिंतक माना गया। उन्हें हिंदी नाटक का युग प्रवर्त्तक करार दिया गया।

उन्होंने नाटक के कथानक को काफी विविध बना दिया। उनसे पहले के नाटक धार्मिक और भावुकता प्रधान थे। इसकी जगह उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक नाटक लिखे। इसके जरिए उन्होंने तार्किक चिंतन विकसित करने की कोशिश की। इनके लिखे भारत-दुर्दशा, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति जैसे नाटक अभी भी मंचित हो रहे हैं। ये सभी प्रहसन की श्रेणी में भी आते हैं। हिंदी में पहली बार प्रहसन लिखने की शुरुआत इन्होंने ही की और उसे उसके शीर्ष तक भी पहुंचाया। इस विधा के जरिए उन्होंने समाज में गहरी पैठी समस्याओं पर व्यंग्य के माध्यम से करारा प्रहार किया था। इनका रंगमंच के क्षेत्र में काफी योगदान रहा। वेश, वाणी, अभिनय के स्वरूप और गीतों के स्वाभाविक प्रयोग आदि पर इन्होंने काफी काम किया।

इन्होंने पारसी और पश्चिमी थिएटर के अति प्रभाव से दूर करते हुए हिंदी रंगमंच की स्थापना की।

उनका काव्य रचना-संसार बहुत विस्तृत था

भारतेंदु का काव्य रचना संसार बहुत विस्तृत था। इतनी छोटी सी उम्र में ही उन्होंने 21 काव्यग्रंथ, 48 प्रबंध काव्य और कई मुक्तक रच डाले थे। वे गद्य खड़ी बोली में लिखते थे लेकिन कविता के लिए उन्होंने ब्रज भाषा को चुना था। इस प्रवृत्ति को 'भाषा का द्वैध' कहा गया, जो इनके दो दशक बाद तक चलता रहा। भारतेंदु ने कहा कि कविता के लिए जिन भाव-बोधों की जरूरत होती है वे काफी प्रयास करने के बाद भी खड़ी बोली में नहीं आ सके। इसे उनकी विलक्षण प्रतिभा की सीमा माना जाता है। हालांकि बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके शिष्य कवि 1900 के बाद खड़ी बोली में भी सुंदर काव्य रचने में सफल रहे। वैसे उनकी कविता में कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय जैसे पारंपरिक छंदों के अलावा लावनी, कजली जैसी लोकप्रचलित शैलियों का भी जमकर प्रयोग हुआ।

वे एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे

भारतेंदु एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे। उन्होंने बालाबोधनी, कविवचन सुधा और हरिश्चंद्र मैगजीन (बाद में हरिश्चंद्र पत्रिका) जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन और संपादन कर साहित्य से अलग विषयों और समस्याओं पर लिखा। इन पत्रिकाओं के जरिए उन्होंने न केवल नई किस्म की भाषा का विकास किया बल्कि आधुनिक भारत की समस्याओं पर भी खुलकर चिंतन किया। वे इन पत्रिकाओं के जरिए अक्सर देशप्रेम विकसित करने की कोशिश किया करते थे। हरिश्चंद्र बाबू ने इन पत्रिकाओं के लिए ढेरों निबंध, आलोचना और रिपोर्ताज लिखे। आलोचकों के अनुसार इन विधाओं की स्थापना भारतेंदु और इनके साथियों के प्रयासों से ही हुई। अपनी पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लिखे अपने लेखों से उन्होंने अन्य लेखकों को भी प्रेरित किया। आलोचकों के अनुसार उनके साथी बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र की लेखनी पर भारतेंदु का स्पष्ट प्रभाव दिखता था। उन्होंने दिखाया कि कैसे साहित्य से इतर विधाओं में भी आम-जीवन से जुड़े विषयों पर लिखा जा सकता है। इन वजहों से उनकी पत्रिका लोगों में हिंदी के प्रति अभिरुचि विकसित करने में कामयाब हुई।

हरिश्चंद्र बाबू का व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व बहुआयामी था। उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में योगदान दिया विशेषकर गद्य साहित्य में। आधुनिक हिंदी साहित्य के सभी विधाओं के बीज इनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। इन्होंने अपने को किसी एक विधा तक सीमित नहीं रखा था। वे 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' नामक उपन्यास भी लिख रहे थे, लेकिन असमय निधन से वे यह काम पूरा न कर सके। उनका यह सपना बाद में उनके साथी श्रीनिवास दास ने हिंदी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरू' लिखकर पूरा किया। ऐसी अद्वितीय प्रतिभा दुर्भाग्य से अपने जीवन के चौथे ही दशक में छह जनवरी, 1885 को दुनिया से कूच कर गईं।

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्‌बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा सा अंश देखिए-

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्‌टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंगरेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंगरेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्‌ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू

लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं,

बहुत लोग यह कहेंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करैं? तुम्हरा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णत: खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया,

सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले ने जो द्रव्य व्यय किया है, उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा,

यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और

उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

भारतेन्दु ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है-

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दुःख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं॥

हिंदी साहित्य के भारतेंदु युग में मूल्य

सामान्य रूप से 'मूल्य' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र से जुड़ा हुआ होता है और अर्थशास्त्रीय कार्य-व्यवहारों में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग किसी वस्तु की भौतिक उपादेयता को भौतिक रूप से ही प्रकट करने या सिद्ध करने के अर्थ में होता है। दर्शन के धरातल पर मूल्य का अर्थ अर्थशास्त्रीय 'मूल्य' से एकदम अलग और व्यापक होता है।

दर्शन के क्षेत्र में मूल्य को उसके व्यापक अर्थों में परिभाषित और व्याख्यायित करने की परंपरा पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव से भारत में विकसित हुई है। भारतीय दर्शन जिन आदर्श तत्त्वों की स्थापना की बात कहता है, उनकी उपादेयता का मूल्यांकन करके पाश्चात्य दर्शन 'मूल्यवाद' की अवधारणा को स्थापित करता है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य दर्शन पारलौकिक या अभौतिक तत्त्वों के साथ ही लौकिक या भौतिक तत्त्वों की उपादेयता का विचार भी करता है और उन्हें अलग-अलग वर्गों में विभक्त करके मानव तथा मानवता के लिए उपयुक्तता के क्रम का निर्धारण भी करता है। इस प्रकार मूल्यवाद के अंतर्गत वे सभी तत्त्व एवं पदार्थ समाहित हो जाते हैं, जो मानव की इच्छाओं से पूर्णतः या अंशतः जुड़े हुए होते हैं।

दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में 'मूल्य' के व्याख्याता अर्बन ने इसी आधार पर मूल्यों के निम्न प्रकार बताए हैं।

1. **शारीरिक मूल्य**–जिससे शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, अन्न, भोजन आदि।

2. **आर्थिक मूल्य**–धन, संपत्ति आदि।

3. **मनोरंजन का मूल्य**–खेल आदि मन लगाने की वस्तुएँ।

4. साहचर्य का मूल्य–मित्रता आदि।

5. चारित्रिक मूल्य–सच्चाई, ईमानदारी आदि।

6. सौंदर्य संबंधी मूल्य–कला, सुंदरता, चित्रकारी आदि।

7. बौद्धिक मूल्य–ज्ञान।

8. धार्मिक मूल्य–ईश्वर, आत्मा आदि।

इनमें से शारीरिक मूल्य, आर्थिक मूल्य और मनोरंजन का मूल्य जैविक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। साहचर्य का मूल्य और चारित्रिक मूल्य सामाजिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। सौंदर्य संबंधी मूल्य, बौद्धिक मूल्य और धार्मिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं।1

इन सभी मूल्यों के अंतर्गत मानवीय कार्य-व्यवहारों से लेकर समाज और विश्व तक की गतिविधियाँ, कार्य-व्यवहार और दिशा-दशा संचालित होती है, नियंत्रित होती है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 'मूल्य' को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि, "हमारे आचरणों और व्यवहारों का समूहीकरण ही 'मूल्य' नामक धारणा के रूप में स्थापित होता है। ये धारणाएँ ही हमारे व्यवहारों का निर्देशन करतीं और आदर्शों की स्थापना करती हैं, जिनके आधार पर मनुष्य अच्छे-बुरे और सही-गलत की पहचान और घोषणा करता है। इसीलिए जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ मूल्यों में भी परिवर्तन होता है।"2 जीवन के साथ साहित्य के समानुपातिक संबंध होते हैं और इसीलिए मूल्यों का यह परिवर्तन साहित्य में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

साहित्य समाज का दर्पण है, यह उक्ति साहित्य साथ समाज के संबंधों को व्याख्यायित करने के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त होती रही है और आज भी प्रयोग की जाती है। यदि इस आधार पर देखा जाए तो मूल्यवाद के साथ साहित्य का संबंध स्वत: स्थापित हो जाता है। इसके साथ ही साहित्य समाज का दीपक होता है, इस उक्ति पर विचार किया जाए तो निस्संदेह स्वीकार करना होगा कि जब समाज मूल्यों से विलग होकर अपनी ऊर्जा को मानवताविरोधी गतिविधियों में लगाना प्रारंभ कर देता है, तब साहित्य उदात्त मानवीय मूल्यों की दुहाई देकर दीपक की भाँति समाज को सही रास्ता दिखाने का कार्य करता है। इस प्रकार मूल्यवाद के साथ साहित्य के घनिष्ठ अंतर्संबंधों को जाना-समझा जा सकता है।

मूल्यवाद की अवधारणा हिंदी साहित्य में घोषित तौर पर दिखाई नहीं देती, इसके बावजूद हिंदी साहित्य के इतिहास के युग निर्धारण में साहित्य के साथ जुड़े मानवीय मूल्यों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिंदी साहित्येतिहास

के आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल का कालनिर्धारण कालखंड विशेष में प्रचलित मूल्यों का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल में भी मूल्य की यह अवधारणा स्पष्ट परिलक्षित होती है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत भारतेंदु युग से होती है। हिंदी साहित्येतिहासकारों ने सन् 1857 की प्रथम स्वाधीनता क्रांति को आधार बनाकर हिंदी साहित्य के आधुनिक युग के प्रारंभ का कालखंड निर्धारित किया है। सन् 1850 में भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म और उनके साहित्यिक अवदान को ध्यान में रखकर आधुनिक युग के प्रथम उपविभाजन, सन् 1857 से सन् 1900 ई. को भारतेंदु युग की संज्ञा दी गईं है। अर्बन द्वारा निर्धारित किए गए मानवीय मूल्यों के आधार पर भारतेंदु युग का मूल्यांकन इस युग की साहित्यिक विशिष्टताओं को जानने-समझने हेतु महत्त्वपूर्ण है।

सन् 1857 की क्रांति भारतीय समाज के लिए एकदम अभूतपूर्व घटना थी। इस क्रांति ने भारतीय समाज की दिशा और दशा को परिवर्तित किया। समाज के साथ ही साहित्य में, विचारों में बदलाव के एक नए दौर की शुरुआत हुई। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं कि, "अंग्रेजों ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन किया। इस देश के लोग भी नये संदर्भ में कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य हुए। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा। यह प्रक्रिया भारतेंदु के समय में हुई, वह भी गद्य के माध्यम से। आधुनिक जीवन-चेतना की जैसी चिनगारियाँ गद्य में दिखायी पड़ीं, वैसी पद्य में नहीं।"

भारतेंदु युग में गद्य के माध्यम से विकसित हुई आधुनिक जीवन-चेतना और नवीन वैचारिकता की सीधा संबंध बौद्धिक मूल्य, चारित्रिक मूल्य, साहचर्य का मूल्य और सौंदर्य संबंधी मूल्य से है। भारतेंदु युग के पूर्ववर्ती रीतिकाल में साहित्य जिस प्रकार मनोरंजन के मूल्य, शारीरिक मूल्य और आर्थिक मूल्य से जुड़कर अनुत्पादक हो चुका था, उस परंपरा को त्यागकर भारतेंदु युग में साहित्य का पुनर्जागरण हुआ। भारतेंदु युगीन काव्य एवं गद्य साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन इस तथ्य को प्रभावी रूप से स्थापित करने हेतु महत्त्वपूर्ण होगा।

राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत आदर्शवादी काव्य-चेतना का प्रारंभ भारतेंदु युग से होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस काव्य-चेतना के प्रवर्तक कवि थे। "उन्होंने अपनी विभिन्न रचनाओं में धार्मिक पाखंडों, सामाजिक दुराचारों एवं राजनीतिक पराधीनता का दिग्दर्शन स्पष्ट रूप में करवाया है।"4 भारतेंदु युग में

राष्ट्र का अर्थ छोटे-छोटे रजवाड़ों, रियासतों में बँटे भारत को एक सूत्र में बाँधने के आशय से था। वीरगाथा कालीन प्रवृत्तियों से अलग हटकर और क्षेत्रीय संकीर्णता को त्यागकर समूचे भारत को एक राष्ट्र की दृष्टि से देखने की यह नई शुरुआत आदर्श मानवीय मूल्यों की स्थपना का सर्वथा नवीन आयाम है। इसी से जुड़ा हुआ पक्ष राष्ट्रीय स्तर पर सर्वमान्य भाषा का है। बुंदेली, बघेली, अवधी, ब्रज आदि क्षेत्रीय बोलियों में बँटे संपूर्ण हिंदी भाषी क्षेत्र को एक सूत्र में बाँधने का कार्य भारतेंदु मंडल के साहित्यकारों ने किया। समूचे देश को जोड़ने और आपसी वैमनस्य को समाप्त करके अंग्रेजों के खिलाफ संगठित करने में भारतेंदु युगीन साहित्य का योगदान एक ओर अभूतपूर्व और मूल्यवान है तो दूसरी ओर साहचर्य का मूल्य साहित्य के माध्यम से समाज में स्थापित करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

बौद्धिक मूल्य के स्तर पर भी भारतेंदु युगीन साहित्य खरा उतरता है। जहाँ एक ओर अंग्रेजों के विरोध में उस युग के साहित्यकार लगे हुए थे, वहीं दूसरी ओर खुले हृदय से अंग्रेजी भाषा के साहित्य की विशिष्टताओं को अनुवाद के माध्यम से आत्मसात् भी कर रहे थे। संस्कृत साहित्य के साथ ही अंग्रेजी साहित्य का हिंदी अनुवाद भारतेंदु युग की अपनी विशेषता है। भारतेंदु मंडल के कवि श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी की अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों का खड़ीबोली हिंदी और ब्रजभाषा में अनुवाद किया। बौद्धिक मूल्य के साथ ही सौंदर्य संबंधी मूल्य और मनोरंजन का मूल्य भारतेंदु युग में प्रचलित समस्यापूर्ति की काव्य पद्धति में देखने को मिलता है। "कवियों की प्रतिभा और रचनाकौशल को परखने के लिए कविगोष्ठियों और कवि-समाजों में कठिन-से-कठिन विषयों पर समस्यापूर्ति करायी जाती थी। भारतेंदु द्वारा काशी में स्थापित कविता-वर्द्धिनी-सभा, कानपुर का रसिक समाज, बाबा सुमेर सिंह द्वारा निजामाबाद (जिला आजमगढ़) में स्थापित कवि-समाज आदि ऐसे मंच थे, जहाँ नियमित रूप से कवि गोष्ठियाँ होती थीं और समस्यापूरण को प्रतियोगिता के रूप में प्रोत्साहन दिया जाता था। प्रतिष्ठित कवि इसमें भाग लेने में संकोच नहीं करते थे और नये कवियों का इससे यथेष्ट उत्साहवर्द्धन होता था।"

भारतेंदु युगीन हास्य-व्यंग्य भले ही मनोरंजन के मूल्य से जुड़ा हुआ हो, मगर इसमें भी सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना का प्रदर्शन इतनी गहराई के साथ उभरता है कि हास्य-व्यंग्य में सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता। प्रस्तुत है एक बानगी-

जग जानैं इंगलिश हमैं, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै बदन कर श्याम रंग-जन्म सुफल तब होय॥

और

मुँह जब लागै तब नहिं छूटे, जाति मान धन सब कुछ लूटे।
पागल कर मोहिं करे खराब, क्यों सखि सज्जन? नहीं सराब॥

भारतेंदु युगीन साहित्य में परिलक्षित धार्मिक मूल्यों पर साहचर्य के मूल्यों, चारित्रिक मूल्यों और बौद्धिक मूल्यों का समावेश मिलता है। भारतेंदु युगीन भक्ति-भावना कड़े धार्मिक बंधनों में जकड़ी हुई नहीं थी, वरन् सभी धर्मों, मतों पंथों के समन्वय से, व्यावहारिकता और खुलेपन से तथा देश के प्रति अनुराग से जुड़कर विकसित हुई थी। फलतः ऐसी भक्ति-भावना ने समाज को जोड़ने का कार्य किया और भक्ति से जोड़कर राष्ट्रप्रेम की अलख जगाने का कार्य किया। भारतेंदु युगीन भक्ति भावना ने धार्मिक पाखंडों, कुरीतियों का भी जमकर विरोध किया। इस प्रकार भारतेंदु युगीन काव्य की भक्ति-भावना विषयक प्रवृत्ति भी उच्चतम मूल्यों की स्थापना के मापदण्ड पर खरी उतरती है।

भारतेंदु युगीन कवियों ने रीतिकालीन दरबारी काव्य परंपरा को त्यागकर जनता की समस्याओं का निरूपण व्यापक रूप में किया है। भारतेंदु युगीन काव्य की सामाजिक चेतना नारी-शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, छुआछूत, भेदभाव जैसी सामाजिक समस्याओं के विरोध में खड़ी होती है। इस बदलाव के संदर्भ में डॉ. साधना शाह लिखती हैं कि, "अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के कारण चीजों को देखने-परखने के हमारे रवैये में अंतर आया। सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गई। परंपरागत धार्मिक साहित्य और नवीन औद्योगिक युग के बीच अंतर्विरोध सामने आया। हमने महसूस किया कि हम जिस तरह का जीवन जी रहे हैं। वह अप्रगतिशील और दकियानूसी है। परिणामतः सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में हमारे मध्ययुगीन बोध के खिलाफ जनमत बनने लगा। लोग आधुनिक मूल्यों के प्रति आकृष्ट होने लगे।"

भारतेंदु युगीन गद्य साहित्य में नवीन मूल्यों की स्थापना की प्रवृत्ति काव्य की अपेक्षा सशक्त रूप में दृष्टिगत होती है। इसका प्रमुख कारण गद्य की यथार्थ से निकटता और अभिव्यक्ति की सशक्तता है। भारतेंदु युग में हिंदी नाटकों से ही गद्य की शुरुआत होती है। इस तथ्य के पीछे नाटकों की सामाजिकता, सम्प्रेषण की प्रभावोत्पादकता और नाटकों के मंचन का सांगठनिक कौशल (Unity ofAction, Time&Place) कार्य करता है। "ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य

समाज और आगे चलकर स्वयं भारतेंदु द्वारा संस्थापित तदीय समाज के नामकरण, और उनके कार्यक्रम इस मान्यता को भली-भाँति पुष्ट करते हैं। इधर नाटक सभी साहित्य और कला-माध्यमों के बीच अपनी प्रकृति में सर्वाधिक सामाजिक है। रंगमंच पर उसका प्रस्तुतीकरण अनेक प्रकार के कलाकारों के सहयोग से होता है, वैसे ही उसका आस्वादन समाज के रूप में किया जाता है।" मनोरंजन के मूल्य के साथ ही साहचर्य के मूल्य की स्थापना का साहित्य में और समाज में इससे बढ़कर कोई दूसरा उदाहरण खोज पाना असंभव की हद तक कठिन होगा।

भारतेंदु युग को हिंदी उपन्यासों की शुरुआत का युग भी माना जाता है। हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों में भारतेंदु मंडल के लेखक ठाकुर जगन्मोहन सिंह के उपन्यास श्यामा स्वप्न का उल्लेख करना प्रासंगिक और समीचीन होगा। "जिस नवोदित उत्तर भारतीय मध्य वर्ग की आशा-आकांक्षाओं और जीवन मूल्यों के बहुविध तनावों की दृष्टि से हिंदी उपन्यास का उदय हुआ, श्यामा स्वप्न उस प्रक्रिया को स्थगित और निलंबित करने वाला उपन्यास है।" संभवत: इसी कारण श्यामा स्वप्न की तीव्र-तीक्ष्ण आलोचना उस युग में हुई और यह क्रम वर्तमान में भी जारी है। तत्कालीन समाज में प्रचलित मूल्यों से अलग हटने पर साहित्य को भी आलोचना का शिकार बनना पड़ता है। इससे अलग हिंदी के पहले उपन्यासकार की प्रतिष्ठा प्राप्त लाला श्रीनिवास दास के उपन्यास परीक्षा गुरु में तत्कालीन समय और समाज की स्थितियों का, बदलते मानव-मूल्यों का सटीक प्रस्तुतीकरण हुआ है। लाला श्रीनिवास दास परीक्षा गुरु की भूमिका में इसका खुलासा कर देते हैं- "इस पुस्तक के रचने मैं मुझको महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरे फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालौं से बड़ी सहायता मिली है। इसलिए इन सबका मैं बहुत उपकार माना हूँ..."

कमोबेश ऐसे ही तथ्य तत्कालीन निबंध साहित्य और नवोदित कहानी विधा के साथ जुड़े हैं। पुनर्जागरण के प्रभाव के फलस्वरुप समाज में प्रतिष्ठित होते जा रहे उदात्त मानवीय मूल्य भारतेंदु युगीन साहित्य में प्रतिष्ठित होकर समाज को एक नई दिशा और नवीन वैचारिक शक्ति प्रदान करने का कार्य कर रहे थे। अर्बन द्वारा बताए गए शारीरिक और आर्थिक मूल्यों की, अर्थात् साहित्य सृजन के माध्यम से जीविका चलाने और साहित्य को अर्थार्जन का माध्यम बनाने की प्रवृत्ति तत्कालीन साहित्याकारों में नहीं थी।

तर्कबुद्धिवादी दार्शनिक नीत्शे ने मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की बात कही है। "उसने समस्त मूल्यों के मूल्यांकन पर बल दिया है। उनमें यदि प्राचीन मूल्य शक्ति उपार्जन की कसौटी पर खरे उतरें तो उन्हें वर्तमान समय के लिए भी मूल्यवान माना जा सकता है। यह मानव मूल्यों का परीक्षण है।" भारतेंदु युगीन साहित्य में नीत्से की इस अवधारणा को भी देखा जा सकता है, जो पूर्ववर्ती साहित्यिक युगों से भारतेंदु युग में आई हैं।

समग्रतः, हिंदी का भारतेंदु युगीन साहित्य उत्कृष्टतम मानवीय मूल्यों की स्थापना के मानदण्ड पर खरा उतरता है। अपनी पूर्ववर्ती युगीन प्रवृत्तियों को त्यागकर, समय और समाज की आवश्यकता के अनुरूप सार्थक मूल्यों को आत्मसात कर भारतेंदु युगीन साहित्य ने ज्ञान के प्रति मानवीय आग्रह को न केवल तृप्त किया है, वरन् इसी आधार पर हिंदी के आधुनिक युग की आधारशिला रखकर हिंदी साहित्य को नई दिशा देने का सार्थक प्रयास भी किया है।

5

द्विवेदी युग में हिन्दी साहित्य का विकास

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण भारतेन्दु-युग है एवं दूसरा चरण द्विवेदी-युग। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने सरस्वती का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था उनके सम्मान में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित

हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं, ''मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। ...शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरज: कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया ?'' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे।

उसी समय इन्होंने अपने लिए सिद्धान्त निश्चित किए-वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है, ''पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था। तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेट-लेयर (Permanent way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह की एक दफे मुझे छोड़कर तरक्की के लिए दरख्वास्त नहीं देनी पड़ी।'' द्विवेदी जी 15 रुपये मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी, उस वक्त 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रुपये।

उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई, से उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बंबई, नागपुर, होशंगाबाद, इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अभ्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1895 ई. में श्रीमहिम्नस्तोत्र की रचना की, जो पुष्पदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। द्विवेदी जी ने सभी पद्यरचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में ही किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो सांप्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान हैं, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म-निवेदन' में

उन्होंने लिखा है, ''बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कंठस्थ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा।

मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।'' 1889 से 1892 ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई-विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबंधों का हिन्दी में भावार्थ मूलक रूपांतर किया, जो बेकन-विचार-रत्नावली पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने हिन्दी कालिदास की आलोचना लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1988 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने नैषध-चरित-चर्चा नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पच्चासी पुस्तकें प्रकाशित हुई।

जनवरी, 1903 ई. से दिसंबर, 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकांड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्त्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, ''उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।'' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि' के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी स्वयं तो एक 'महान ज्ञान-राशि' थे ही उनका संपूर्ण वांग्मय भी संचित ज्ञानराशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परंपरा को आत्मसात करते हुए विश्वचिन्तन के समक्ष भी होना है। डॉ. रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी

है, वह संपत्तिशास्त्र है।.....अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं।

इसके साथ उन्होंने राजनीति विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीति घटनाएँ हो रही थीं, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रवेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

ऐसे महान ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उस पर एक नजर डालें, ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में सरस्वती के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्‌भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।

स्थायी निबंधों की श्रेणी में चार ही लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकाल या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गईं हैं।'' इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं, ''कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेजी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि

उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखंड के लिए हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचंद्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आसक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी साठ-पैंसठ वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए, तो अनर्थ होगा ही। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक हैं। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदानों को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्त्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं, ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।'' दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे अंग्रेजी में Judicial Criticism और हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशतः कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का कहना है कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील हैं अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदंड स्वीकार किया जा सकता। लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। यही कारण है कि रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके

संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर'-यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निस्संदेह भाषा है। जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया ? जिस लेखक को भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा ? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें-महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा-सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है-मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-नवरत्न की समीक्षा लिखते हुए लिखा है, ''इस तरह की बातें किसी इतिहास कार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास-लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना श्यामसुंदर दास एवं रायकृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखी गईं नंददुलारे वाजपेयी द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक हिन्दी साहित्य– बीसवीं शताब्दी में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित संपूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा संपादित सरस्वती के अंकों को ही महत्त्व दिया गया।

नामकरण

आचार्य रामचन्द्र शुक्त ने इस युग को प्रकरण 3 गद्य साहित्य का प्रसार द्वितीय उत्थान नाम दिया है जिसमें गद्य विद्या का विवेचन किया है एवं प्रकरण 3 नई धारा द्वितीय के अंतर्गत पद्य विद्या का विवेचन करते हुए लिखा है– "इस द्वितीय उत्थान के आरंभ काल में हम पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ही को पद्य रचना की एक प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में पाते हैं। गद्य पर जो शुभ प्रभाव द्विवेदी जी का पड़ा है उसका उल्लेख गद्य के प्रकरण में हो चुका है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के गद्य-पद्य दोनों विधाओं में द्विवेदी जी का प्रमुख स्थान था।

डॉ. नगेन्द्र ने इस काल खंड को नया नाम 'जागरण-सुधार काल' देना चाहकर भी द्विवेदी युग नाम को उचित कहा है। डॉ. नगेन्द्र ने 'द्विवेदी युग' का औचित्य प्रतिपादन करते हुए लिखा है–"इस काल खंड के पथ-प्रदर्शक, विचारक और सर्वस्वीकृत साहित्य नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर इसका नाम 'द्विवेदी युग' उचित ही है। स्पष्ट हो गया कि इस काल खंड का सर्वमान्य नाम "द्विवेदी युग" है।

काल सीमांकन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी युग की काल सीमा संवत् 1957-1977 वि. अर्थात् 20 वर्षों की कालावधि स्वीकारी है। डॉ. नगेन्द्र ने इस काल खंड का प्रारंभ 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन काल से माना है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सन् 1900-1918 ई. तक 'द्विवेदी युग' की सीमा स्वीकारी है। डॉ. लाल चंद गुप्त 'मंगल' ने द्विवेदी युग की काल सीमा सन् 1900-1918 ई. तक मानी है। प्रवृत्ति लगभग बीस वर्षों तक चलती रही है इसलिए सन् 1900-1920 तक मानना उचित है।

द्विवेदी युगीन काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

हिंदी साहित्य में द्विवेदी जी का विशेष महत्त्व है क्योंकि उन्होंने तत्कालीन साहित्य में प्रचलित रूढ़ियों का संगठित और खुलकर विरोध किया। उस समय साहित्य में तीन तरह की रूढ़ियां और शिथिल परंपराएँ प्रभावी हो रही हैं।

1. कवियों और आलोचकों का एक बहुत बड़ा वर्ग इस बात की वकालत करने में लगा हुआ था कि खड़ी बोली में कविता हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें वह लालित्य और माधुर्य नहीं है, जो ब्रजभाषा में है।
2. शृंगार रस, नायिकाभेद, उक्तिवैचित्र्य के साहित्य में सर्वाधिक महत्व दिया जाता रहा था।
3. उस समय कविता में समस्यापूर्ति की ऐसी धूम मची हुई थी कि बहुतेरे कवि किसी न किसी समस्या का सहारा लिए बिना कविता लिख ही नहीं सकते थे।

द्विवेदी जी ने पूरी शक्ति के साथ इन शिथिल परंपराओं और रूढ़ियों का विरोध किया। आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओं में भारतेंदु के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण नाम द्विवेदी जी का है। इसलिए भारतेंदु युग के पश्चात् हिंदी साहित्य में उसे द्विवेदी युग कहा गया। इस युग में श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में काव्य-रचना करते हुए प्रकृति को आलंबन रूप में ग्रहण करने का आग्रह किया। छंद संबंधी नये-नये प्रयोग किये और कविताओं में रहस्य संकेत दिये। पाठक जी की कविता अपने युग से आगे थी।

मैथिलीशरण गुप्त ने आदर्श चरित्राों की सृष्टि की और उन्हें अलौकिकता के आकाश से उतार कर मानवीयता की भूमि पर खड़ा किया। व्याकरण सम्मत और स्वाभाविक भाषा के प्रयोग में जितनी महारत गुप्त जी को प्राप्त थी, उतनी उस काल के किसी अन्य कवि को नहीं। इस युग के हिंदी काव्य की उल्लेखनीय प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं–

1. देशभक्ति–19वीं सदी के अन्त में भारतेंदु, प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवियों के काव्य में देशभक्ति का जो स्वर सुनाई पड़ा था, द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य में उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया और उसका चरमोत्कर्ष मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में दिखाई पड़ा। द्विवेदीयुगीन कवियों की राष्ट्रीय भावना भारतेन्दुयुगीन कवियों की राष्ट्रीय भावना से किंचित् भिन्न और अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं मुखर है। भारतेंदुयुगीन काव्य में राजभक्ति का स्वर भी सुनाई पड़ता है, किन्तु द्विवेदीयुगीन काल शुद्ध राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना से अनुप्राणित है। उनमें अंग्रेजी शासन के प्रति आक्रोश एवं विद्रोह की भावना तथा भारतीय जनता को स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए उद्‌बुद्ध और प्रेरित करने वाला क्रांतिकारी स्वर सुनाई पड़ता है।

सामान्य जनता में राष्ट्र के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए भारत के गौरवपूर्ण अतीत और उसकी प्राकृतिक छटा की भावपूर्ण छवि अंकित की गई है। गुप्त जी ने 'भारत-भारती' में भारत की श्रेष्ठता का उद्‌घोष किया है।

समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों, कुरीतियों, ईर्ष्या-द्वेष, आदि का हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत कर कवियों ने भारतीय जनमानस को उसकी कमियों से अलग कराते हुए परस्पर संगठित होकर देश की उन्नति करने के लिए ओजस्वी स्वर में प्रेरित किया। रामनरेश त्रिपाठी की 'जन्मभूमि भारत' शीर्षक कविता में देशवासियों को द्वेष का परित्याग कर देश की उन्नति में योग देने के लिए प्रेरित किया गया है

2. नैतिकता का प्राधान्य–भारतेन्दु युग के कवियों ने अपनी कविताओं में यद्यपि नए-नए विषयों का समावेश किया फिर भी वे रीतिकालीनश्रृंगारी भावना को छोड़ न कर सके। द्विवेदीयुग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में रीतिकालीन श्रृंगारिकता का स्पष्ट विरोध किया गया और कविता के भीतर आदर्श एवं नैतिकता की प्रतिष्ठा हुई। मात्र मनोरंजन की भावना से दूर हटकर कविता में उचित उपदेशात्मक का समावेश करने पर बल दिया गया।

मैथिलीशरण गुप्त

वासनात्मक प्रेम के स्थान पर प्रेम के उस स्वर्गिक रूप की झाँकी प्रस्तुत की गई जो ईश्वर का प्रतिरूप है और इसलिए

यह प्रेम हृदय को आलोकित करने वाला है–

गन्ध विहिन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिका हीन।
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम विहीन॥
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है प्रेम हृदय आलोक॥

रामनरेश त्रिपाठी–कविता के माध्यम से मनुष्य के हृदय में स्वार्थत्याग, कर्त्तव्यपालन, आत्मगौरव आदि उच्चादर्शों की स्थापना का प्रयास किया गया। इसके लिए कहीं तो सद्गुण और सत्संग की महिमा का वर्णन हुआ और कहीं दुर्गुण और कुसंग की बुराईयों पर सीधी-सरल भाषा में प्रकाश डाला गया।

3. मानवतावादी दृष्टिकोण- आधुनिक काल से पूर्व भारतीय समाज में जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि आधारों पर भेद-भाव की अनेक दीवारें खड़ी की गईं थीं। पुरुषों द्वारा स्त्रियों को मात्र वासनापूर्ति का साधन समझकर उनका निरंतर शोषण हो रहा था। आधुनिककाल में बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रभाव से मानव-मात्र की समानता का भाव विकसित हुआ। स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार देने की बात सोची जाने लगी। धीरे-धीरे परम्परागत धर्म का स्थान मानवता ने ले लिया। द्विवेदीयुगीन कवियों ने धर्म के इस आभ्यंतर स्वरूप को अच्छी तरह पहचाना और मानव के प्रति प्रेम तथा दीन-दुखियों की सेवा को सच्चा धर्म बताया–

जग की सेवा करना ही बस है सब सारों का सार।
विश्व प्रेम के बन्धन ही में मुझको मिला मुक्ति का द्वार॥

मुकुटधर पाण्डेय

राम और कृष्ण को अवतारी सिद्ध करते हुए उन्हें मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाले आदर्श पुरुष के रूप में कल्पित किया गया है गुप्त जी ने 'साकेत' में राम के मुँह से स्पष्ट कहलवाया है–

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।
जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।।

नारी को समाज में उचित प्रतिष्ठा दिलाने के लिए पाठकों का ध्यान ऐसे नारी पात्रों की ओर आकृष्ट किया गया जिनको प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय महाकाव्यों में कोई स्थान नहीं दिया गया था। मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयत्न किये। गुप्त जी ने 'साकेत' के माध्यम से उपेक्षित उर्मिला की मर्मव्यथा का चित्रांकन किया।

4. आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण–भारतेंदु युग के कवियों की दृष्टि प्रकृति के स्वतंत्र रूप की ओर गयी थी, परन्तु वे अपने को परम्परागत रीतिकालीन प्रकृति चित्रण से सर्वथा मुक्त नहीं कर सके थे। भारतेन्दु ने 'चन्द्रावली' और 'सत्य हरिश्चन्द' में क्रमशः यमुना और गंगा की प्राकृतिक सुषमा का स्वतन्त्र चित्रण करने का प्रयास किया, लेकिन अलंकारप्रियता और शब्दचमत्कार के लोभ में उसका प्राकृतिक सौन्दर्य दब सा गया। द्विवेदीयुगीन कवियों ने प्रकृति को निकट से देखा और उसे पूर्णतः आलम्बन रूप में स्वीकार किया। श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जगमोहन सिंह, रामचन्द्र शुक्ल की कविताओं में प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य के श्लिष्ट चित्र देखने को मिलते हैं। रामनरेश त्रिपाठी के खण्डकाव्यों में प्रकृति के मोहक चित्र भरे पड़े हैं। 'स्वप्न' नामक खण्डकाव्य में वर्णित वेगवती पहाड़ी नदी का यह चित्र दर्शनीय है–

पर्वत शिखरों पर हिम गलकर, जल बनकर नालों में आकर।
छोटे बड़े चीकने अगणित शिला समूहों से टकरा कर।।
गिरता उठता फेन बहाता अति कोलाहल हर हर।
वीरवाहिनी की गति से कहता रहता निसिवासर।।

5. इतिवृत्तात्मकता–भारतेंदु युग के कवियों ने काव्य शैली जगत में नवीन प्रयोग न अपनाकर रीतिकालीन शब्द-चमत्कार प्रधान तथा प्रवाहपूर्ण शैली

में काव्य रचनाएँ की थीं। द्विवेदी युग में कविता कथात्मक प्रवाह के साथ चलती थी। द्विवेदी युग में ब्रजभाषा कवियों को छोड़ शेष सब ने रीतिकालीन अभिव्यक्ति-प्रणाली का विरोध किया। उनकी कविताओं में संस्कृति साहित्य के नये-नये छंदों और तथ्य प्रधान सीधी-सपाट भाषा का प्रयोग देखने को मिलता है। कल्पना की लम्बी उड़ानों के सहारे रचे गये संश्लिष्ट बिम्बों की हृदयस्पर्शी छटा द्विवेदीयुगीन कवियों में देखने को नहीं मिलती है।

खड़ी बोली के पूर्णत: समृद्ध हो जाने के उपरान्त उसमें सूक्ष्म अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने वाली चित्रमयी लाक्षणिक शैली का विकास हुआ, जिसका चरम उत्कर्ष आगे चलकर छायावादी कवियों की कविता में देखने को मिलता है।

6. खड़ी बोली की प्रतिष्ठा–द्विवेदी युग में गद्य जगत में प्रतिष्ठित होने के साथ-साथ पद्य के क्षेत्र में भी खड़ी बोली की व्यापक प्रतिष्ठा सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। आचार्य महावीर द्विवेदी के महत्प्रयत्नों से उनके समय में खड़ी बोली के प्रतिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना हुई और पहले से चली आने वाली व्याकरणिक असमानताएँ समाप्त हो गईं। द्विवेदी जी ने स्वयं अपनी कविताओं में संस्कृतनिष्ठ समास प्रधान पदावली का प्रयोग किया और दूसरों को भी इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रोत्साहन दिया।

द्विवेदीयुग की कविता में खड़ी बोली के दो स्पष्ट स्वरूप दिखाई पड़ते हैं-एक उसका वह स्वरूप है जिसमें बोलचाल के सीधे सरल शब्दों का प्रयोग हुआ है और दूसरा उसका वह रूप है जिसमें संस्कृतनिष्ठ समासप्रधान शब्दावली देखने को मिलती है। महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'हरिऔध जी' की कविताओं में भाषा के दोनों रूपों के नमूने एक साथ देखने को मिल जाते हैं–

द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता खड़ी बोली के आधार पर गंभीर भावों से अनुप्राणित है। उसमें मनोरंजन के साथ-साथ उसमें गहरा उपदेश समाहित है जो उस युग की अपेक्षा थी। बहुविधा स्वातंत्र्य भावना की दृष्टि से, नये-नये विषयों की उद्‌भावना की दृष्टि से, नयी चेतना की व्याख्या की दृष्टि से, भाषा-संस्कार की दृष्टि से द्विवेदीयुगीन कविता विशिष्ट है।

द्विवेदीजी का योगदान

सन 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका

के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ। इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बालमुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्णसिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिन्दी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की 'इंदुमती' कहानी को कुछ विद्वान् हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की 'दुलाई वाली', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा भी कुछ नाटक लिखे गए।

साहित्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण 'भारतेन्दु युग' है एवं दूसरा चरण 'द्विवेदी युग'। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका का लगातार अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान् कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

नाट्य साहित्य

'द्विवेदी युग' नाट्य साहित्य की दृष्टि से सबसे कम समृद्ध है। इस काल में मौलिक नाटकों के सृजन में कमी आई। ऐसा लगता है कि नाटकीय गतिविधि

धीरे-धीरे काफी कम हो गईं थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जो नाटक मंडलियाँ थीं, वे व्यावसायिक तो थी नहीं, इसलिए समय के साथ वे काल के गाल में समा गईं। इस युग के प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं उच्च कोटि के अभिनेता माधव शुक्ल ने अव्यावसायिक रंगमंच को फिर से जिन्दा करने की कोशिश की। बात 1908 की है, जब उन्होंने इलाहाबाद की रामलीला नाटक मंडली को झाड़-पोछ कर सुरुचि सम्पन्न लोगों की पसंद लायक बनाया। यहाँ से कई नवजागरण का संदेश देने वाले नाटकों का मंचन हुआ। राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक चेतना का संस्कार करने वाले नाटकों का रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत किया गया।

रामचन्द्र शुक्ल की विवेचना

'द्विवेदी युग' के नाटकों की विवेचना करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं- 'इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथावस्तु के लिये लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्‌भावना उनमें नहीं पाई जाती।' चूंकि इस युग में भारतेन्दु से आगे बढ़कर शिल्प और संवेदना के स्तर पर कोई नया प्रयोग तो नहीं ही हुआ, इसलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना का जो काम शुरू किया था, वह आगे न बढ़ सका। बल्कि यो कहें कि इस युग में सृजन की दृष्टि से ह्रास ही हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता की रुचि व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की तरफ मुड़ गईं।

साहित्य के लिए रचनात्मक संघर्ष

भाषा-परिमार्जन के साथ ही सर्जनात्मक साहित्य की हर विधा से लेकर साहित्य समालोचना के लिए द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' ने युगांतकारी भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए सिर्फ कहानी विधा को लें तो रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' 1903 में द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' में ही छपी। बंग महिला (राजेंद्रबाला घोष) की कहानी 'कुंभ की छोटी बहू' 'सरस्वती' के सितंबर 1906 के अंक में छपी। 'सरस्वती' में 1909 में वृंदावनलाल वर्मा की कहानी 'राखी बंद भाई' और 1915 में प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' और 1916 में उन्हीं की बहुचर्चित कहानी 'पंच परमेश्वर'

छपी। 1915 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' 'सरस्वती' में छपी। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' और 'गुलबहार' तथा भगवान दास की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' पहले ही 'सरस्वती' में छप चुकी थीं।

'सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणियाँ और समालोचनाएँ महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं लिखते थे और उनकी समालोचना की साख इतनी थी कि जिस भी किताब की वे प्रशंसा कर देते थे, उसकी प्रतियाँ देखते-देखते बिक जाती थीं।

द्विवेदी जी कला व साहित्य को अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखते थे। वे मराठी, गुजराती और बांग्ला की श्रेष्ठ पुस्तकों की समीक्षाएँ भी पूरे सम्मान से प्रकाशित करते थे। द्विवेदी जी ने बांग्ला कवि माइकल मधुसूदन दत्त के अवदान पर लंबा लेख 'सरस्वती' में छापा था। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के जनवरी 1904 के अंक में मराठी लेखक दत्तात्रेय की रानी लक्ष्मीबाई पर लिखी पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिखा था -जिनको मराठी में अभ्यास नहीं है, उनके, हम, अकेली एक यह पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करते हैं। द्विवेदी जी ने दिखाया था कि भारतीय भाषाओं के साहित्य में सहकार संबंध कैसे बन सकता है। द्विवेदी जी मराठी, गुजराती और बांग्ला के भी ज्ञाता थे। वे हिंदी, उर्दू, संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी के भी जानकार थे और इन सातों भाषाओं के साहित्य से वे स्वयं को अद्यतन रहते थे और उन भाषाओं के साहित्य की समालोचना कर सरस्वती के पाठकों को भी समृद्ध करते थे। द्विवेदी जी की संपादन कला की विशेषता थी कि उन्होंने साहित्य को कलाओं से जोड़ा। द्विवेदी जी ने संगीत कला पर स्वयं कई लेख लिखे। 'सरस्वती' के अक्टूबर 1907 के अंक में 'गायनाचार्य विष्णु दिगंबर पलुस्कर' और 'सरस्वती' के नवंबर 1907 के अंक में 'संगीत के स्वर' शीर्षक सुचिंतित लेख लिखे। और साहित्य की विधाओं-कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, जीवनी, आलोचना के समांतर समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, नागरिक शास्त्र, इतिहास और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भी पत्रिका में महत्व दिया और इस तरह उसका फलक विस्तृत कर दिया। अनेक रचनाकारों को सबसे पहले द्विवेदी जी ने ही अवसर दिया और जिनकी कविता या कहानी या लेख 'सरस्वती' में छपते थे, वे भी चर्चा में आ जाते थे। 'सरस्वती' के रचनाकारों में श्यामसुंदर दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधा कृष्ण दास, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी, संत निहाल सिंह, माधव राव सप्रे, राम नरेश त्रिपाठी, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल

स्नेही, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला,, महादेवी वर्मा, राय कृष्ण दास, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारी सिंह दिनकर जैसे साहित्यकार शामिल थे।

साहित्येतर विषयों के प्रति भी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का बराबर रुझान रहा। द्विवेदी जी के अध्ययन-अनुशीलन का एक प्रमुख विषय अर्थशास्त्र था। अर्थशास्त्र पर द्विवेदी जी का पहला लेख फरवरी 1907 की 'सरस्वती' में छपा था। द्विवेदी जी राजनीतिक अर्थशास्त्र को संपत्ति शास्त्र कहते थे। उनकी पुस्तक 'संपत्ति शास्त्र' 1908 में आई थी। संपत्ति शास्त्र दरअसल हिंदी में अर्थशास्त्र पर कदाचित पहली पुस्तक है जिसे लिखने के लिए द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र और राजनीतिक अर्थशास्त्र पर अंग्रेजी में लिखी नौ और बांग्ला, उर्दू, मराठी व गुजराती में लिखित दो-दो पुस्तकों की यानी कुल सत्रह पुस्तकों की सहायता ली थी। इसका विवरण द्विवेदी जी ने संपत्तिशास्त्र की भूमिका में दिया है। द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र संबंधी सिर्फ प्रकाशित पुस्तकों की ही मदद नहीं ली, अपितु अप्रकाशित पुस्तक की भी सहायता ली। वह अप्रकाशित पुस्तक माधवराव सप्रे की थी। संपत्तिशास्त्र की भूमिका में द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र संबंधी माधवराव सप्रे के प्रयास का उल्लेख पूरे सम्मान के साथ किया है। सप्रे जी ने अर्थशास्त्र पर एक किताब तैयार तो की थी किंतु उसे लिखने के उपरांत वे संतुष्ट नहीं हुए, फलतः उसे प्रकाशित नहीं कराया। सप्रे जी ने वह हस्तलिखित किताब द्विवेदी जी को भेज दी। संपत्तिशास्त्र की भूमिका में द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है कि सप्रे जी की हस्तलिखित पुस्तक से उन्होंने बहुत लाभ उठाया। भूमिका का आरंभ द्विवेदी जी इस तरह करते हैं, 'हिंदुस्तान संपत्तिहीन देश है। यहाँ संपत्ति की बहुत कमी है। जिधर आप देखेंगे उधर ही आँख को दरिद्र देवता का अभिनय किसी न किसी रूप में अवश्य ही दिख पड़ेगा।' कहने की जरूरत नहीं कि भारत की वह संपत्तिहीन दशा ब्रिटिश साम्राज्यवाद की संसाधनों की लूट का नतीजा थी। आज 2014 में मानो उन्हीं कठिन आर्थिक हालातों की पुनरावृत्ति हो रही है। अंग्रेज भारत में व्यापार करने ही आए थे और बाद में वे इसके भाग्यविधाता बन गए। 1991 से ही भारत में उदारीकरण की आँधी चल रही है और विदेशी कंपनियाँ भारत में आ रही हैं और यहाँ के संसाधनों का दोहन कर रही हैं। संपत्ति शास्त्र में द्विवेदी जी ने लिखा है, 'पाश्चात्य संपत्ति शास्त्र के कितने ही नियम ऐसे हैं जिनका अनुसरण करने से पश्चिमी देशों को तो लाभ है, पर हिंदुस्तान की सर्वथा हानि है।' कहने की जरूरत नहीं कि द्विवेदी जी अपने समय से बहुत

आगे थे। उन्होंने 1908 में जो चिंताएँ जाहिर की थीं, उसमें आज समूचे गरीब भारत को शरीक होना पड़ रहा है। ये चिंताएँ प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश की अनुमति दिए जाने के बाद पैदा हुईं। दावा किया जा रहा था कि एफडीआई के दरवाजे खोलने से मंदी से उबरने में मदद मिलेगी। वह दावा खोखला साबित हो चुका है क्योंकि भारत की आर्थिक विकास में गिरावट जारी है। यह दावा भी किया गया था कि नए आर्थिक सुधारों से देश की तरक्की होगी। 1991 में नए आर्थिक सुधार लागू हुए। तब से निश्चित ही तरक्की हुई है, लेकिन उसका लाभ देश-विदेश की चुनिंदा कंपनियों, निवेशकों, अमीरों, नेताओं और दलालों को मिला है। यानी देश के तीन से पाँच प्रतिशत लोगों की तरक्की हुई है और भारत में डालर अरबपतियों की संख्या 55 तक पहुँच गईं। लेकिन देश की जो 95 प्रतिशत आबादी है, उसकी स्थिति और बिगड़ी है। आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया तेज होने के बाद इस देश में दो देश बने हैं। एक अत्यंत अमीरों का देश, दूसरा अत्यंत गरीबों का देश। एक तरफ चमक-दमकवाली शापिंग माल का देश दिखता है तो उसी के समानांतर देश के कई हिस्से किसानों के लिए सुसाइड जोन बने हुए हैं। नए आर्थिक सुधारों के कालखंड में यानी 1995 से 2010 के बीच भारत में ढाई लाख किसानों ने आत्महत्या की। किसान को उसके हाल पर छोड़ दिया गया। उसे खाद, बिजली, बीज आदि की बढ़ी कीमत अदा करनी पड़ी और उनके उत्पादन का उचित मूल्य नहीं मिला, उल्टे सस्ते विदेशी कृषि उत्पादों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी। देश की बहुसंख्यक आबादी को आर्थिक सुधारों का लाभ नहीं मिलने के बावजूद उस प्रक्रिया को तेज किया गया है। प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश की सीमा बढ़ाते समय उसके दुष्परिणामों पर गौर करने का जहमत क्यों नहीं उठाई गई? बहुब्रांड खुदरा व्यवसाय में प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश की जो छूट दी गईं है, उससे लाभ की तुलना में नुकसान ज्यादा हुआ है। जितना निवेश नहीं हुआ, उससे ज्यादा कई करोड़ नागरिक प्रभावित हुए हैं। भारतवर्ष में कृषि के बाद सबसे ज्यादा लोग खुदरा व्यवसाय से जुड़े हैं और इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति देकर सरकार साधारण युवक-युवतियों को उनके खुदरा व्यवसाय से वंचित कर बेकारी की ओर पहले ही ढकेल चुकी है। खुदरा व्यवसाय में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एक अंतरराष्ट्रीय परिकल्पना है जो दरअसल कार्पोरेट श्रेणी का हरित लूट कार्यक्रम है। अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों का मकसद भारत के कृषि क्षेत्र का उपयोग अपने सोर्सिंग हब के रूप में करना है। देश की अर्थ व्यवस्था पर जब लगातार बेतरह प्रतिकूल प्रभाव पड़ना जारी है तो इन सुधारों को

आर्थिक विकास कहा जाए या आर्थिक बिगाड़? विशेष आर्थिक क्षेत्र की आड़ में बहुराष्ट्रीय कार्पोरेट कंपनियों द्वारा भारत के संसाधनों का दोहन करने, जल-जंगल-जमीन को लूटने का जो दौर चल रहा है, उसने जंगल के साथ अन्योन्याश्रित संबंध बनाकर जीनेवाली एक समूची संस्कृति को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाने की आड़ में हो रहे प्रकृति के अंधाधुंध दोहन के सांघातिक नतीजे मनुष्य प्रजाति को भुगतने पड़ रहे हैं और आगे भी भुगतने होंगे। गांधी ने कहा था कि धरती पर इतना संसाधन है कि उससे मनुष्य की जरूरत की पूर्ति हो सकती है, किंतु लालच की नहीं। इसलिए प्रकृति सम्मत वैकल्पिक रास्तों पर चलना अनिवार्य है। प्रकृति व मनुष्य में संतुलन नहीं होने के कारण ही आज 'ग्लोबल वार्मिंग' का संकट हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है। यह भी कहा जा रहा है कि अगला विश्वयुद्ध पानी के लिए लड़ा जाएगा। यदि समय रहते दुनिया इस पूँजीवादी विनाशकारी राह को नहीं छोड़ती तो धरती से जीवों के गायब होने की आशंका को कम नहीं किया जा सकेगा। प्रकृति के सान्निध्य और साहचर्य में ही मनुष्य और समाज का विकास संभव है। अन्य जीवों के साथ मनुष्य इस धरती पर कैसे लंबे समय तक बना रहे, उन्हीं वैकल्पिक उपायों का संधान हम द्विवेदी जी की किताब संपत्ति शास्त्र में कर सकते हैं। यह किताब मनुष्य व समाज के विकास की राह में खड़े अवरोधों को हटाने में आज भी मददगार है। मनुष्य, समाज और विश्व को बेहतर बनाने के लिए नई सैद्धांतिकी गढ़ने के सूत्र संपत्ति शास्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध नामक दोनों खंडों में बिखरे पड़े हैं। दोनों खंडों को कई उप खंडों में विभक्त किया गया है। पूर्वार्द्ध के सात उपखंड 27 परिच्छेदों में और उत्तरार्द्ध के पाँच उपखंड बीस परिच्छेदों में विभक्त हैं। इन परिच्छेदों में द्विवेदी जी संपत्ति की उत्पत्ति के कारकों में जमीन, श्रम और पूँजी पर विचार करते हैं। वे मानते हैं कि प्रकृति प्रदत्त कच्ची सामग्री जब तक श्रम से नहीं जुड़ती, तब तक संपत्ति के रूप में नहीं बदलती। मार्क्सवाद-लेनिनवाद का राजनीतिक अर्थशास्त्र भी यही बात कहता है। वह बताता है कि आर्थिक तरक्की के बारे में जो घोषणाएँ की जाती हैं, उसके पीछे की राजनीति को समझना होगा।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दिसंबर 1920 में 'सरस्वती' से विदा ली। उनका अंतिम संपादकीय 'संपादक की विदाई' शीर्षक से जनवरी 1921 की 'सरस्वती' में छपा। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा, 'सरस्वती को निकलते पूरे 21 वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था, उस समय हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य

की क्या दशा थी, यह बात लोगों से छिपी नहीं है। जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं। 'सरस्वती' के आकार-प्रकार, उसके ढंग और लेखन शैली आदि को लोगों ने बहुत पसंद किया-अच्छी मासिक पुस्तक में जो गुण होने चाहिए, उसका शतांश भी मुझमें नहीं...।'

कहने की जरूरत नहीं कि अच्छी मासिक पुस्तक में जो गुण होने चाहिए, वे सभी द्विवेदी जी में थे। सही तो यह है कि जब तक द्विवेदी जी के संपादन में निकली 'सरस्वती' को धुरी मानकर नहीं चला जाएगा तब तक बीसवीं शताब्दी के पहले और दूसरे दशक के हिंदी साहित्य के इतिहास को नहीं समझा जा सकेगा। जाहिर है कि तब 'सरस्वती' की सहयात्री पत्रिका 'मर्यादा' के योगदान को भी ध्यान में रखना होगा। 'सरस्वती' 1975 तक निकलती रही किंतु द्विवेदी जी के संपादन के कालखंड यानी बीसवीं शताब्दी के पहले व दूसरे दशक की 'सरस्वती' का योगदान सबसे ऊपर है। इसी तरह बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के हिंदी साहित्य को समझने के लिए 'मतवाला', 'माधुरी', 'सुधा' और 'विशाल भारत' को धुरी बनाना होगा और चौथे दशक के 'हंस' को, पाँचवें दशक के 'प्रतीक' और 'ज्ञानोदय' को, छठे-सातवें दशक की 'कल्पना' को धुरी बनाना होगा। 'कहानी', 'नई कहानी' और उसके परवर्ती समय में 'सारिका', 'कथा', 'समालोचना' के योगदान को भी ध्यान में रखना होगा। आठवें दशक में 'पहल', 'आजकल', नवें- अंतिम दशक में 'हंस' (राजेंद्र यादव के संपादन वाली), 'कथादेश, 'वर्तमान साहित्य', 'वसुधा', 'साक्षात्कार' और 'अक्षरा' के रचनात्मक संघर्ष को ध्यान में रखना होगा। आज भी 'पुनर्नवा', 'अक्षर पर्व' 'आलोचना', 'तद्भव', 'बहुवचन', 'प्रगतिशील वसुधा', पुस्तक वार्ता, वागर्थ, वर्तमान साहित्य, 'परिकथा', 'कथा', 'कथाक्रम' और 'पाखी' जैसी पत्रिकाएँ और समकालीन भारतीय साहित्य, इंद्रप्रस्थ भारती, आजकल जैसी सरकारी पत्रिकाएँ भारतेंदु तथा द्विवेदी युग की ही परंपरा को आगे बढ़ा रही हैं।

द्विवेदी युगीन निबंध

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आता है। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था। बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है। अन्य साथियों की शिष्टता, शील, ज्ञान, आत्मसम्मान आदि

को देखकर उनके समान ही हम भी गुण विकसित करना चाहते हैं। यही बात भारतेन्दु युग के संदर्भ में समझनी चाहिए। भारतेन्दु-काल में साहित्य तो बहुत लिखा गया था, पर भाषा की भूलें साधारण बात थी। निबन्ध के विषय भी साधारण हुआ करते थे। इस युग में इन अभावों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के निबन्धों का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों से हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेज लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित कराया। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के समान सम्पन्न नहीं है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और 'श्यामसुन्दरदास' का नाम दूसरी श्रेणी में लिया जा सकता है।

द्विवेदी-युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। अपने युग के यह आचार्य थे। आचार्य का काम होता है शिक्षा देना, ज्ञान-वर्द्धन कराना, समाज पर नया संस्कार डालना और सुधार करना। ये सब काम इन्होंने किये, इसलिए यह आचार्य कहलाए और इनके नाम पर ही इस काल का नाम द्विवेदी-युग रखा गया। अपने निबन्धों और समालोचनाओं के द्वारा सबसे मुख्य काम इन्होंने भाषा-सुधार का किया। 'किंकर्तव्य' नामक निबन्ध में यह लिखते हैं–'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता। जहां तक सम्भव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए। मुहावरे का विचार रखना चाहिए। क्रोध क्षमा कीजिए, इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुंचाते हैं।' इस अवतरण से इनके भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

द्विवेदी जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'कवि और कविता' 'प्रतिभा', 'साहित्य की महत्ता' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं। 'लोभ', 'क्रोध' 'संतोष'– भावात्मक, 'हंस का क्षीरनीर विवेक', 'जापान में पतंगबाजी', 'हजारों वर्ष पुराने खंडहर' और 'प्रताप सुषमा'– वर्णनात्मक है और 'हंस-संदेश' तथा 'नल का दुस्तर दूत-कार्य'– विवरणात्मक। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि इनके निबन्धों में जानकारी अधिक रहती है, इनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि एक आचार्य शिष्य-मण्डली को पढ़ा रहा है।

माधवप्रसाद मिश्र भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन, साहित्य कला के सच्चे उपासक थे। इनका अपना व्यक्तित्त्व था। यदि ये किसी को भारतीय और प्राचीन साहित्य का गौरव घटाने का प्रयत्न करते हुए पाते थे, तो उनकी आलोचना करते थे। आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की भी उन्होंने निर्भय आलोचना की थी। इनकी भाषा निर्दोष, साफ-सुथरी, विषयानुकूल, व्यंग्यात्मक और प्रभावशाली है। संस्कृत का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। इनके लिखे 'धृति', 'क्षमा', 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय', 'काव्यालोचना', 'वेबर' का भ्रम'– विचारात्मक और 'सब मिट्टी हो गया'– भावात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु युग की यह परम्परा मिश्र जी के निबन्धों के साथ ही समाप्त हो गई।

अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के सबसे प्रमुख, भावुक और विचारक निबन्धकार हैं। इससे अधिक गौरव की बात और क्या होगी कि इन्होंने केवल छह निबन्ध लिखे और फिर भी अपने समय के श्रेष्ठ लेखक माने गए। उनमें से प्रमुख हैं 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता', और 'सच्ची वीरता'। अध्यापक जी के निबन्धों में प्रेरणा देने वाले नए-नए विचार हैं। इनकी भाषा बड़ी ही शक्तिशाली है। उसमें एक खास बाँकपन है जिससे भाव का प्रकाशन भी निराले ढंग से होता है। विषय भी ऐसे नए कि अब तक किसी को सूझे ही नहीं। साथ, ही इनमें भावुकता का माधुर्य भरा है। वीरता, आचरण, शारीरिक परिश्रम का जो महत्व उन्होंने समझाया, उसको ठीक समझा जाए तो आज धर्म का नया रूप सामने आ जाए। समाज में क्रांति हो जाए, मनुष्य और सारा देश उन्नति के शिखर पर पहुंच जाए। ''जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं।'' 'मजदूरी और प्रेम' का यह उद्धरण कितना महान् संदेश देता है। भाषा की लाक्षणिकता इनकी विशेषता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी स्वतंत्र विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्ध इन्होंने भी थोड़े ही लिखे। इनकी रचनाओं में भी जीवन को उठाने की प्रेरणा और नए विचारों का खजाना मिलता है। संस्कृत के महापण्डित होते हुए भी पुरानी लकीर पीटने वाले ये नहीं थे। प्राचीन धार्मिक कथाओं की ये वैज्ञानिक और बुद्धसम्मत व्याख्या करते थे। 'कछुआ धर्म' नामक निबंध भी गम्भीर तर्कपूर्ण, प्रभावशाली, विचार-प्रधान शैली इनकी विद्वता और तर्क-कुशलता का सुन्दर उदाहरण है।

गोविन्दनारायण मिश्र का नाम उनकी विचित्र अलंकारपूर्ण संस्कृत शब्दावली से लदी काव्यमय और बनावटी शैली के लिए लिया जा सकता है। आपको याद होगा भारतेन्दु-काल में 'प्रेमघन' जी भी इसलिए याद किए जाते हैं।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पांचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनका दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अतः कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं –

(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),

(2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गईं जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुजफरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी

नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे – पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलत: नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं, किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का नि:संकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं – कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनर्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर

प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध'(1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें – गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्णप्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में

'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थियेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़घोंघों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गईं। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', 'मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। 'फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को

लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रूवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रागंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं, परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

6

छायावादी हिन्दी साहित्य

छायावाद हिंदी साहित्य के रोमांटिक उत्थान की वह काव्य-धारा है जो लगभग ई.स. 1918 से 1936 तक की प्रमुख युगवाणी रही।

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानदन पंत, महादेवी वर्मा इस काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। छायावाद नामकरण का श्रेय मुकुटधर पाण्डेय को जाता है।

मुकुटधर पाण्डेय ने श्री शारदा पत्रिका में एक निबंध प्रकाशित किया जिस निबंध में उन्होंने छायावाद शब्द का प्रथम प्रयोग किया। कृति प्रेम, नारी प्रेम, मानवीकरण, सांस्कृतिक जागरण, कल्पना की प्रधानता आदि छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। छायावाद ने हिंदी में खड़ी बोली कविता को पूर्णत: प्रतिष्ठित कर दिया। इसके बाद ब्रजभाषा हिंदी काव्य धारा से बाहर हो गई। इसने हिंदी को नए शब्द, प्रतीक तथा प्रतिबिंब दिए। इसके प्रभाव से इस दौर की गद्य की भाषा भी समृद्ध हुई। इसे 'साहित्यिक खड़ीबोली का स्वर्णयुग' कहा जाता है।

छायावाद के नामकरण का श्रेय 'मुकुटधर पांडेय' को दिया जाता है। इन्होंने सर्वप्रथम 1920 ई में जबलपुर से प्रकाशित श्रीशारदा (जबलपुर) पत्रिका में 'हिंदी में छायावाद' नामक चार निबंधों की एक लेखमाला प्रकाशित करवाई थी। मुकुटधर पांडेय जी द्वारा रचित कविता 'कुररी के प्रति' छायावाद की प्रथम कविता मानी जाती है।

हिंदी कविता में छायावाद का युग द्विवेदी युग के बाद आया। द्विवेदी युग की कविता नीरस उपदेशात्मक और इतिवृत्तात्मक थी। छायावाद में इसके विरुद्ध विद्रोह करते हुए कल्पनाप्रधान, भावोन्मेषयुक्त कविता रची गईं। यह भाषा और

भावों के स्तर पर अपने दौर के बांग्ला के सुप्रसिद्ध कवि और नोबेल पुरस्कार विजेता रवींद्रनाथ ठाकुर की गीतांजली से बहुत प्रभावित हुई। यह प्राचीन संस्कृत साहित्य (वेदों, उपनिषदों तथा कालिदास की रचनाओं) और मध्यकालीन हिंदी साहित्य (भक्ति और शृंगार की कविताओं) से भी प्रभावित हुई। इसमें बौद्ध दर्शन और सूफी दर्शन का भी प्रभाव लक्षित होता है। छायावादयुग उस सांस्कृतिक और साहित्यिक जागरण का सार्वभौम विकासकाल था जिसका आरंभ राष्ट्रीय परिधि में भारतेंदुयुग से हुआ था।

वस्तुजगत् अपना घनत्व खोकर इस जग में
सूक्ष्म रूप धारण कर लेता, भावद्रवित हो।

कवि के केवल सूक्ष्म भावात्मक दर्शन का ही नहीं, 'छाया' से उसके सूक्ष्म कलाभिव्यजंन का भी परिचय मिलता है। उसकी काव्यकला में वाच्यार्थ की अपेक्षा लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता है। अनुभूति की निगूढ़ता के कारण अस्फुटता भी है। शैली में राग की नवोद्बुद्धता अथवा नवीन व्यंजकता है।

द्विवेदी युग में कविता का ढाँचा पद्य का था। वस्तुतः गद्य का प्रबंध ही उसमें पद्य हो गया था, भाषा भी गद्यवत् हो गई थी। छायावाद ने पद्य का ढाँचा तोड़कर खड़ी बोली को काव्यात्मक बना दिया। पद्य में स्थूल इतिवृत्त था, छायावाद के काव्य में भावात्मक अतंर्वृत्त था, छायावाद के काव्य में भावात्मक अंतर्वृत्त आ गया। भाव के अनुरूप ही छायावाद की भाषा और छंद भी रागात्मक और रसात्मक हो गया। ब्रजभाषा के बाद छायावाद द्वारा गीतकाव्य का पुनरुत्थान हुआ। छायावाद युग के प्रतिनिधि कवि हैं- प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार। पूर्वानुगामी सहयोगी हैं- माखनलाल और 'नवीन'।

गीतकाव्य के बाद छायावाद में भी महाकाव्य का निर्माण हुआ। तुलसीदास जैसे 'स्वांतः' को लेकर लोकसंग्रह के पथ पर अग्रसर हुए थे वैसे ही छायावाद के कवि भी 'स्वात्म' को लेकर एकांत के स्वगत जगत् से सार्वजनिक जगत् में अग्रसर हुए। प्रसाद की 'कामायनी' और पंत का 'लोकायतन' इसका प्रमाण है। 'कामायनी' सिंधु में विंदु (एकांत अंतर्जगत) की ओर है, 'लोकायतन' विंदु में सिंधु (सार्वजनिक जगत) की ओर।

छायावाद की परिभाषा

छायावाद अपने युग की अत्यंत व्यापक प्रवृत्ति रही है। फिर भी यह देख कर आश्चर्य होता है कि उसकी परिभाषा के संबंध में विचारकों और समालोचकों

में एकमत नहीं हो सका। विभिन्न विद्वानों ने छायावाद की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं की हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है –'छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहां उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहां कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।... छायावाद एक शैली विशेष है, जो लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों और अमूर्त उपमानों को लेकर चलती है।' दूसरे अर्थ में उन्होंने छायावाद को चित्र-भाषा-शैली कहा है।

महादेवी वर्मा ने छायावाद का मूल सर्वात्मवाद दर्शन में माना है। उन्होंने लिखा है कि 'छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। ... अन्यत्र वे लिखती हैं कि छायावाद प्रकृति के बीच जीवन का उद्-गीथ है।

डॉ. राम कुमार वर्मा ने छायावाद और रहस्यवाद में कोई अंतर नहीं माना है। छायावाद के विषय में उनके शब्द हैं- 'आत्मा और परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्यवाद है और वही छायावाद है। एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं-'छायावाद या रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक सत्ता से अपना शांत और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती है और यह संबंध इतना बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अंतर ही नहीं रह जाता है।...परमात्मा की छाया आत्मा पर पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा पर। यही छायावाद है।'

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का मंतव्य है –'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। छायावाद की व्यक्तिगत विशेषता दो रूपों में दीख पड़ती है- एक सूक्ष्म और काल्पनिक अनुभूति के प्रकाश में और दूसरी लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग में। और इस आधार पर तो यह कहा ही जा सकता है कि छायावाद आधुनिक हिंदी-कविता की वह शैली है जिसमें सूक्ष्म और काल्पनिक सहानुभूति को लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक ढंग पर प्रकाशित करते हैं।'

शांतिप्रिय द्विवेदी ने छायावाद और रहस्यवाद में गहरा संबंध स्थापित करते हुए कहा है-'जिस प्रकार मैटर ऑफ फैक्ट (इतिवृत्तात्मक) के आगे की चीज छायावाद है उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज रहस्यवाद है।'

गंगाप्रसाद पांडेय ने छायावाद पर इस प्रकार प्रकाश डाला है-'छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झांकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। ...जिस प्रकार छाया स्थूल वस्तुवाद के आगे की चीज है, उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की चीज है।'

जयशंकर प्रसाद ने छायावाद को अपने ढग से परिभाषित करते हुए कहा है-'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिंदी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।'

डॉ. देवराज छायावाद को आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह स्वीकार करते हैं।

डॉ. नगेन्द्र छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह मानते हैं और साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि 'छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है। जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है। उन्होंने इसकी मूल प्रवृत्ति के विषय में लिखा है कि वास्तव पर अंतर्मुखी दृष्टि डालते हुए, उसको वायवी अथवा अतीन्द्रीय रूप देने की प्रवृत्ति ही मूल वृत्ति है। उनके विचार से, युग की उदबुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अंतर्मुखी साधना आरंभ की वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। वे छायावाद को अतृप्त वासना और मानसिक कुंठाओं का परिणाम स्वीकार करते हैं।

डॉ. नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'छायावाद' में विश्वसनीय तौर पर दिखाया कि छायावाद वस्तुत: कई काव्य प्रवृत्तियों का सामूहिक नाम है और वह उस 'राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति' है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति पाना चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।

उपर्युक्त परिभाषाओं से छायावाद की अनेक परिभाषाएं स्पष्ट होती हैं, किंतु एक सर्वसम्मत परिभाषा नहीं बन सकी। उपरिलिखित परिभाषाओं से यह भी व्यक्त होता है कि छायावाद स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के काफी समीप है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को समन्वित करते हुए हम कह सकते हैं कि 'संसार के प्रत्येक पदार्थ में आत्मा के दर्शन करके तथा प्रत्येक प्राण में एक ही आत्मा की अनुभूति करके इस दर्शन और अनुभूति को लाक्षणिक और प्रतीक शैली द्वारा व्यक्त करना ही छायावाद है।'

आधुनिक काल के छायावाद का निर्माण भारतीय और यूरोपीय भावनाओं के मेल से हुआ है, क्योंकि उसमें एक ओर तो सर्वत्र एक ही आत्मा के दर्शन की भारतीय भावना है और दूसरी ओर उस बाहरी स्थूल जगत के प्रति विद्रोह है, जो पश्चिमी विज्ञान की प्रगति के कारण अशांत एवं दु:खी है।

छायावाद शब्द का प्रयोग

हिन्दी की कुछ पत्रिकाओं- 'श्रीशारदा' और 'सरस्वती' में क्रमश: सन 1920 और 1921 में मुकुटधर पांडेय और सुशील द्वारा दो लेख 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे। अत: कहा जा सकता है कि इस नाम का प्रयोग सन 1920 से या उससे पूर्व से होने लग गया था। संभव है कि मुकुटधर पांडेय ने ही इनका सर्वप्रथम आविष्कार किया हो। यह भी ध्यान रहे कि पांडेय जी ने इसका प्रयोग व्यंग्यात्मक रूप में छायावादी काव्य की अस्पष्टता (छाया) के लिये किया था। किंतु आगे चलकर वही नाम स्वीकृत हो गया। स्वयं छायावादी कवियों ने इस विशेषण को बड़े प्रेम से स्वीकार किया है। एक ओर जयशंकर प्रसाद लिखते हैं- 'मोती के भीतर छाया और तरलता होती है, वैसे ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ अनुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएं हैं। अपने भीतर से पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कांतिमय होती है।'

दूसरी ओर महादेवी वर्मा भी प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाती हुई कहती हैं- 'सृष्टि के बाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वछंद छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त लगता है।' जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा की इन उक्तियों में कोई तर्क नहीं है। जयशंकर प्रसाद जिन गुणों का आख्यान कर रहे हैं, उसके आधार पर तो इस कविता का नाम 'प्रकाश', 'चमक' या 'कांति' होना चाहिए था, या महादेवी वर्मा द्वारा परिगणित

विशेषता को लेकर इसे अनुभूति भावुकता आदि किसी नाम से पुकारा जाना चाहिए था, किंतु वास्तविकता यह है कि नामकरण के सम्बन्ध में पूर्वजों के आगे किसी का वश नहीं चलता। कविता की तो बात ही क्या, स्वयं कवियों को भी कुछ ऐसे नाम विरासत में मिले हैं कि उन्हें उपनाम ढूंढने को विवश होना पड़ा है। अत: 'छायावाद' नाम को लेकर ज्यादा ऊहापोह करना अनावश्यक है।

छायावाद का स्वरूप

हिंदी की स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की विकसित अवस्था को छायावाद नाम से अभिहित किया गया है। इस आधार पर देखा जाय तो श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय और रामनरेश त्रिपाठी, जिन्हें आचार्य शुक्ल 'सच्चे स्वच्छन्दतावादी' कहते थे, प्रथम चरण के कवि हैं और दूसरे चरण इस काव्य-प्रवृति को अधिक सूक्ष्म और व्यापक रूप देकर प्रौढ़तम उत्कर्ष तक पहुँचाने वाले कवि जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी वर्मा थे, जिन्हें छायावादी कवि माना गया। 'छायावाद' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम मुकुटधर पाण्डेय ने किया। उन्होंने 1920 में जबलपुर से प्रकाशित पत्रिका "श्रीशारदा" में "हिंदी कविता में छायावाद" नाम से एक लेखमाला प्रकाशित की द्य उन्होंने छायावाद की आरंभिक विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए लिखा कि "छायावाद एक मायामय सूक्ष्म वस्तु है। इसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है।" किन्तु आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह अनुमान लगा लिया कि छायावाद और रहस्यवाद बंगाल के ब्रह्म-समाजी छायापदों और रवीन्द्रनाथ टैगोर की रहस्यानुभूतियों का रूपांतरण है और जिसका आधार ईसाई धर्म-प्रचारकों का रहस्य-दर्शन अर्थात् फैंटसमाटा है। कुछ समय के बाद छायावाद के लिए "रोमैंटिसिज्म" शब्द का प्रयोग किया गया। कवि और आलोचकों ने छायावाद और रोमैंटिसिज्म को पर्याय समझना शुरू किया। आचार्य शुक्ल ने छायावाद को एक शैली मात्र घोषित कर दिया। किन्तु रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छन्दतावाद (रोमैंटिसिज्म) में सूक्ष्म अंतर है। लेकिन आचार्य शुक्ल के इस मत को उनके प्रिय कवि सुमित्रानंदन पन्त ने यह कहकर अमान्य कर दिया कि रहस्योन्मुखता छायावाद की एक महत्वपूर्ण विशेषता अवश्य है, उसका केंद्रीय भाव नहीं है। छायावाद वस्तुत: एक विशेष सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष है। रहस्योन्मुखता और प्रकृति प्रेम उसी की अभिव्यक्ति की विविध सरणियाँ हैं। जहाँ तक छायावाद को एक शैली मात्र मानने की बात है तो प्रतीकात्मकता को छायावाद का अनिवार्य लक्षण पहले ही मान लिया गया है।

मूल रूप से यथार्थ को छाया के माध्यम से व्यक्त करने वाले काव्यान्दोलन को छायावाद कहा जाता है। द्विवेदी युगीन बंधन प्रियता और आदर्शवादिता को विरोध करते हुए छायावादी रचनाकारों ने युग के यथार्थ के बाह्य स्वरूप को ना व्यक्त करके उसकी सूक्ष्मता को व्यक्त करने पर अत्यधिक जोर दिया। छायावादी कविता गहरे अर्थों में कल्पना तत्त्व, सांस्कृतिक चेतना का विकास, राष्ट्रवादी चेतना का विस्तार, नवजागरण के सूक्ष्म होते स्तर और आधुनिकता बोध की कविता है। छायावादी कवियों ने अपनी व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति कविता के माध्यम से की है। इन्होंने विषय वस्तु की खोज बाह्य जगत से ना करके अपने मन के साथ संवाद को अभिव्यक्त किया है। छायावाद विदेशी पराधीनता और स्वदेशी जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों से मुक्त होने का मुखर स्वर भी है, जिसमें राष्ट्रीय जागरण की चेतना प्रधान है।

सांस्कृतिक चेतना का विकास छायावाद की एक प्रमुख विशेषता के रूप में सामने आती है। कोई भी समाज जब आधुनिकता के संपर्क में आता है तो वह सबसे पहले अपने इतिहास के साथ संवाद स्थापित करता है। साथ ही उन सभी तत्त्वों को अलगाने का कार्य करता है जो उनकी सांस्कृतिक परंपरा को मजबूत करते हैं। इसक्रम में छायावादियों के पास एक लंबी परंपरा मौजूद है जिसके बरक्स वह तत्कालीन समाज के सामने उनके गौरवशाली इतिहास को ला सकते थे। छायावाद काव्य को एकतरफ गांधीवाद से प्रेरणा प्राप्त हुयी और दूसरी तरफ वह बंगाल के नवजागरण तथा रवीन्द्रनाथ के संपर्क में भी आता है। छायावाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना गांधी की भाववादी विचारधारा तथा रवीन्द्रनाथ का मानवतावाद से प्रेरणा लेकर विकसित हो रही हैं।

छायावादी काव्य की विशेषताएँ

छायावादी काव्य अपनी विशेषताओं के कारण साहित्य में विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान बना चुका है। कुछ महत्वपूर्ण रेखांकन योग्य विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. प्रकृति चित्रण–छायावादी काव्य में प्रकृति के सर्वाधिक आकर्षक लौकिक तथा अलौकिक रूपों का चित्रण किया गया है। इस धारा के समस्त कवि प्रकृति के पुजारी हैं। पंत, प्रसाद, निराला, दिनकर आदि ने प्रकृति को परम रूपसी नारी के रूप में चित्रित किया है।

2. व्यक्तिवाद की प्रधानता—द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक विचारधारा के कारण छायावाद में व्यक्तिवादी भाव उभर आया है। इस काव्यधारा में जहाँ आध्यात्मिक पक्ष सामने आया है वहीं व्यक्तिवादी भाव भी उभरा है। हिन्दी कविता जाति विशेष के सुख दुख तक ही सीमित न रहकर समस्त मानव के सुख दुख की कहानी बन गई है। इस काव्यधारा का कवि विभिन्न समस्याओं और बाधाओं के समाधान को बाह्य जगत में न खोजकर मानव मन में खोजता है। यही कारण है कि छायावाद में वैयक्तिक सुख दुख की अभिव्यक्ति खुलकर हुई है।

3. रहस्यानुभूति और देश प्रेम—छायावादी काव्य में रहस्यात्मक भावना का प्रबल रूप है। इसमें राष्ट्रीय जागरण के साथ रहस्यात्मक भाव का विलक्षण योग दिखाई देता है। इसी राष्ट्रीय जागरण भाव ने छायावाद को असामाजिक पदों पर भटकने से बचा लिया है। छायावादी कवि अलौकिक आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति में युगीन सन्दर्भों को देखता चलता है। यह छायावादी काव्य की आदर्श प्रवृत्ति है।

4. नारी भावना—छायावादी कवियों ने युग-युग से कारा में बन्द नारी को मुक्त करने और समाज में महत्व दिलाने के लिए उद्घोष किया है। उनकी लेखनी से नारी को श्रद्धा पात्र कहा गया है। नारी को सर्वाधिक आदर छायावादी काव्य में मिला है। उक्त काव्य में नारी चित्रण अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और शील है। इसमें नग्नता और अश्लीलता को स्थान नहीं मिला।

नारी सौंदर्य के चित्रण में उसकी अनूठी लेखनी बहुरंगी रंग भरती हुई सामने आती है। नारी जीवन प्रणय गाथा आशा, निराशा से आप्लावित दिखाई देता है। मिलन और विरह की अनुभूतियाँ अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ी हैं। नारी स्वयं को ही नहीं पुरुष को भी समरसता के मार्ग तक पहुँचाती है।

5. मानवतावाद—छायावाद भारतीय सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद से प्रभावित हुआ है। इतना ही नहीं भारतीय दार्शनिकों के दर्शन से भी प्रभावित हुआ है। इसमें भावनाओं की संकीर्णता नहीं वरन् विस्तृत रूप पाकर विश्व मानवतावाद स्थापित हुआ है। उक्त काव्य में नारी के अंग प्रत्यंगों का वर्णन न होकर उसके मानसिक सौन्दर्य का अनूठा रूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार छायावादी काव्य में शृंगार का आदर्श रसात्मक रूप है। जिसमें विलासिता नहीं सात्विकता है। छायावादी कवि युगीन अबला को मुक्त कर मानवतावाद लाना चाहता है।

6. आदर्शवाद–छायावाद में बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक सौन्दर्य का प्रबल रूप मिलता है। यथार्थ के साथ आदर्श तथ्यों के चित्रण में कल्पनात्मक दृष्टिकोण अत्यंत अनूठा बन पड़ा है। आदर्श विचार अथवा कल्पना के कारण छायावादी कविता भाव और कला दोनों ही पक्षों में अनुकरणात्मक विशेषता प्राप्त कर सकती है।

7. वेदना का चरित्र–छायावाद में उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त गेयता, चित्रात्मकता, बिम्ब विधान और प्रतीक योजना और वेदना चित्रण आदि के सन्दर्भों से अपने अनूठे भावात्मक और कलात्मक पक्षों को महत्वपूर्ण रूप में सामने प्रस्तुत करता है। निश्चय ही छायावाद हिन्दी साहित्य में विभिन्न वादों में सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक वाद है।

छायावादी कवियों के जीवन चरित्र की विशेषता

छायावादी कवियों के जीवन चरित्र तथा उनके काव्यों के विवेचन से इनकी चार कोटियाँ सामने आती हैं-

साहित्य साधक-इनका एक मात्र लक्ष्य साहित्य साधना करना था। आजीवन साहित्य साधना में लगे रहे।

जीवन केन्द्रित-ये कवि तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते थे। साथ-साथ काव्य सृजन का कार्य भी करते थे। इनका मुख्य लक्ष्य आंदोलन एवं साहित्य सृजन दोनों न होकर जीवन में सफलता प्राप्त करना था। इसलिए जीवन केन्द्रित कहा जा सकता है।

प्रणयी- ये कवि प्रेमी थे इनके जीवन का मुख्य लक्ष्य प्रणय था। इन्होंने लौकिक प्रेम को प्रधानता दी है तथा नारी के लौकिक, मांसल सौन्दर्य का चित्रण किया है। लौकिक सौन्दर्य का अनुभूतिपरक वर्णन सराहनीय है।

हास्य व्यंग्य

1. साहित्य साधक

"स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा–

भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।।" के कहने वाले महाकवि, भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास वास्तविक साहित्य साधक थे। जीवन से दुखी, किसी से मोह माया नहीं रह गईं थी अगर रही भी होगी तो स्मृति संचारी भाव में। यही स्थिति छायावादी मनीषियों तथा मनीषिणी की थी चारों वैयक्तिक जीवन के दुख

से संतप्त होकर उसे विस्मृत कर साहित्य साधना में लग गए थे। प्रसाद की पत्नियां मरती गईं, प्रेमिकाओं से सच्चा प्रेम न मिला। पंत आजीवन कुंवारे रहे। प्रेमिका मिली तो प्रकृति। निराला की पत्नी एवं सरोज की मृत्यु ने उनकी कमर तोड़ दी। केवल स्मृतियों में संजोए रहे। महादेवी वर्मा का विवाह डॉ. एस.एन. वर्मा से हुआ किंतु आजीवन बिना तलाक के रहीं रत्नावली का परित्याग कर ही तुलसी गोस्वामी तुलसीदास बने। साहित्य साधना का आनन्द सच्चा साहित्यकार ही जानता है। छायावाद की चतुष्टयी के जयशंकर प्रसाद, सुमित्रा नंदन पंत, पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला तथा महादेवी वर्मा चारों साहित्यकार सच्चे साहित्य साधक थे।

ब्रज भाषा का काव्य

'छायावादी युग' में कवियों का एक वर्ग ऐसा भी था, जो सूरदास, तुलसीदास, सेनापति, बिहारी और घनानंद जैसी समर्थ प्रतिभा संपन्न काव्य-धारा को जीवित रखने के लिए ब्रजभाषा में काव्य रचना कर रहे थे। 'भारतेंदु युग' में जहाँ ब्रजभाषा का काव्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया, वहीं छायावाद आते-आते ब्रजभाषा में गौण रूप से काव्य रचना लिखी जाती रही। इन कवियों का मत था कि ब्रजभाषा में काव्य की लंबी परम्परा ने उसे काव्य के अनुकूल बना दिया है। छायावादी युग में ब्रजभाषा में काव्य रचना करने वाले कवियों में रामनाथ जोतिसी, रामचंद्र शुक्ल, राय कृष्णदास, जगदंबा प्रसाद मिश्र 'हितैषी', दुलारे लाल भार्गव, वियोगी हरि, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अनूप शर्मा, रामेश्वर 'करुण', किशोरीदास वाजपेयी, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' प्रमुख हैं।

रामनाथ जोतिसी की रचनाओं में 'रामचंद्रोदय' मुख्य हैं। इसमें रामकथा को युग के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य पर केशव की 'रामचंद्रिका' का प्रभाव लक्षित होता है। विभिन्न छंदों का सफल प्रयोग हुआ है।

रामचंद्र शुक्ल, जो मूलतः आलोचक थे, ने 'एडविन आर्नल्ड' के आख्यान काव्य 'लाइट ऑफ एशिया' का 'बुद्धचरित' शीर्षक से भावानुवाद किया। शुक्ल जी की भाषा सरल और व्यावहारिक है।

राय कृष्णदास कृत 'ब्रजरस', जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' द्वारा रचित 'कवित्त-सवैये' और दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे-दोहावली' इस काल की प्रमुख व उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में राष्ट्रीय भावनाओं की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अनेक स्फुट रचनाएँ लिखीं। लेकिन इनका ब्रजभाषा का वैशिष्टय 'ऊर्मि्मला' महाकाव्य में लक्षित होता है, जहाँ इन्होंने उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्रण किया है।

अनूप शर्मा के चम्पू काव्य 'फेरि-मिलिबो' (1938) में कुरुक्षेत्र में राधा और कृष्ण के पुनर्मिलन का मार्मिक वर्णन है।

रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' (1930) में करुणा, अनुभूति की तीव्रता और समस्यामूलक अनेक व्यंग्यों को देखा जा सकता है।

किशोरी दास वाजपेयी की 'तरंगिणी' में रचना की दृष्टि से प्राचीनता और नवीनता का सुंदर समन्वय देखा जा सकता है।

उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' की रचनाओं में भी भाषा और संवेदना की दृष्टि से नवीनता दिखाई पड़ती है।

इन रचनाओं में नवीनता और छायावादी काव्य की सूक्ष्मता प्रकट हुई है, यदि इस भाषा का काव्य परिमाण में अधिक होता तो यह काल ब्रजभाषा का छायावाद साबित होता।

छायावादी कवियों की दृष्टि में

जयशंकर प्रसाद ने लिखा कि- 'काव्य के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिंदी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया।' वे यह भी कहते हैं कि- 'छायावादी कविता भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्य, प्रकृति-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।'

सुमित्रानंदन पंत छायावाद को पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म से प्रभावित मानते हैं।

महादेवी वर्मा छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद को मानती हैं और प्रकृति को उसका साधन। उनके छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुख में उदास और सुख में

पुलकित जान पड़ती थी।' इस प्रकार महादेवी के अनुसार छायावाद की कविता हमारा प्रकृति के साथ रागात्मक संबंध स्थापित कराके हमारे हृदय में व्यापक भावानुभूति उत्पन्न करती है और हम समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव संबंध जोड़ लेते हैं। वे रहस्यवाद को छायावाद का दूसरा सोपान मानती हैं।

समाज का अन्तर्विरोध

छायावादी कविता और प्रेमचंद की कहानी और उपन्यासों के तुलनात्मक अध्ययन में इस युग के भारतीय समाज में कई अन्तर्विरोध सामने आते हैं। भारत में विकसित हो रहे पूंजीवादी विकास, राष्ट्रीय आत्मचेतना के जागरण तथा औपनिवेशिक और सामन्तवादी उत्पीड़न के विरुद्ध व्यापक संघर्ष के प्रभाव के साथ-साथ 1919-1922 के राष्ट्रव्यापी आंदोलन की पराजय का प्रतिनिधित्व भी इसमें हुआ था। 1914 से प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया था। 1917 से महात्मा गांधी का प्रभाव भारतीय राजनीति में बढ़ने लगा था। 'चौरीचौरा कांड' के हिंसक प्रभाव को ध्यान में रखकर गांधी जी ने असहयोग आंदोलन को 1922 में स्थगित कर दिया। इससे भारत के कुछ बुद्धिजीवियों में गहरी निराशा और उदासी छा गई थी। 1920 के आसपास सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने लिखा- 'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना है।' भारतीय राजनीति में 'गांधी युग' और हिन्दी साहित्य में 'छायावादी युग' एक ही काल की उपज है। साहित्य रूपों के नवीकरण के मार्गों की खोज, रूढिगत बिम्बों को नये सिरे से समझने का प्रयास, भावावेगों की असाधारण प्रचुरता, प्राकृतिक सौन्दर्य की तीव्र अनुभूति, ओजपूर्ण, अभिव्यंजनात्मक भाषा, कलात्मक गद्य आदि इस काल के हिन्दी साहित्यकारों की स्वाभाविक विशिष्टताएं थीं। छायावादी कवि भी सुन्दर, चिरयुवा प्रकृति को प्रस्तुत करते थे।

मुख्य कवि

'छायावाद' का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य क्षेत्र में चलने वाली महादेवी वर्मा ही हैं। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा इस युग के चार प्रमुख स्तंभ हैं। रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय बच्चन और रामधारी सिंह दिनकर को भी 'छायावाद' ने प्रभावित किया। किंतु रामकुमार वर्मा आगे चलकर नाटककार के

रूप में प्रसिद्ध हुए, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रवादी धारा की ओर रहे, बच्चन ने प्रेम के राग को मुखर किया और दिनकर जी ने विद्रोह की आग को आवाज दी। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' इत्यादि और सब कवि प्रतीक पद्धति या चित्रभाषा शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए। छायावादी युग के प्रमुख कवि थे-

रायकृष्ण दास
वियोगी हरि
डॉ. रघुवीर सहाय
माखनलाल चतुर्वेदी
जयशंकर प्रसाद
महादेवी वर्मा
नन्द दुलारे वाजपेयी
डॉ. शिवपूजन सहाय
सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
रामचन्द्र शुक्ल
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
बाबू गुलाबराय

'छायावाद के कवि वस्तुओं को असाधारण दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचना की संपूर्ण विशेषताएँ उनकी इस 'दृष्टि' पर ही अवलंबित रहती हैं।...वह क्षण-भर में बिजली की तरह वस्तु को स्पर्श करती हुई निकल जाती है।...अस्थिरता और क्षीणता के साथ उसमें एक तरह की विचित्र उन्मादकता और अंतरंगता होती है, जिसके कारण वस्तु उसके प्रकृत रूप में नहीं किंतु एक अन्य रूप में दीख पड़ती है। उसके इस अन्य रूप का संबंध कवि के अंतर्जगत से रहता है।...यह अंतरंग दृष्टि ही 'छायावाद' की विचित्र प्रकाशन रीति का मूल है।' इस प्रकार मुकुटधर पांडेय की सूक्ष्म दृष्टि ने 'छायावाद' की मूल भावना 'आत्मनिष्ठ अंतर्दृष्टि' को पहचान लिया था। जब उन्होंने कहा कि 'चित्र दृश्य वस्तु की आत्मा का ही उतारा जाता है,' तो छायावाद की मौलिक विशेषता की ओर संकेत किया। छायावादी कवियों की कल्पनाप्रियता पर प्रकाश डालते हुए मुकुटधर जी कहते हैं- 'उनकी कविता देवी की आँखें सदैव ऊपर की ही ओर उठी रहती हैं, मर्त्यलोक से उसका बहुत कम संबंध रहता है, वह बुद्धि और ज्ञान की सामर्थ्य-सीमा को अतिक्रम करके मन-प्राण के अतीत लोक में ही विचरण

करती रहती है।' यहीं छायावादिता से आध्यात्मिकता तथा धर्म-भावुकता का मेल होता है, यथार्थ में उसके जीवन के ये दो मुख्य अवलंब हैं।

छायावाद : काव्य शक्ति एवं शक्ति काव्य

छायावाद को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शैली की पद्धतिमात्र स्वीकारा है तो नंददुलारे वाजपेयी ने अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली के रूप में अपनाया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे रहस्यवाद के भुल-भुलैया में डाल दिया तो डॉ. नगेंद्र ने 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' कहा। आलोचकों ने छायावाद की किसी न किसी प्रवृत्ति के आधार पर उसे जानने-समझने का प्रयास किया। छायावाद संबंधी विद्वानों की परिभाषाएँ या तो अधूरी हैं या एकांगी। इस संदर्भ में नामवर सिंह का छायावाद (1955) संबंधी ग्रंथ विशेष अर्थ रखता है। उन्होंने एक नए एंगल से छायावाद को देखा। उनके शब्दों में-'छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से। इस जागरण में जिस तरह क्रमशः विकास होता गया, इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी विकसित होती गई और इसके फलस्वरूप छायावाद संज्ञा का भी अर्थ विस्तार होता गया।' उपर्युक्त परिभाषा उस मान्यता को भी पूरी तरह बदलकर रख देती है जो यह मानने तथा प्रमाणित करने के लिए कमर तोड़ मेहनत करती है कि छायावाद प्रेम और वेदना का काव्य है।

छायावाद का समय 1918 से 1936 ई. तक है। अर्थात छायावाद का उद्‌भव तथा विकास दो विश्वयुद्धों के बीच हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रस्तुति के बीच हिंदी साहित्य में छायावाद का सृजन तथा पल्लवन हुआ। आलोच्य काल की सामाजिक परिस्थितियों पर ध्यान दें तो स्पष्ट पता चलता है कि समाज दो पाटों के बीच पीसा जा रहा था। एक ओर औपनिवेशिक परतंत्रता की जंजीर से भारतीय समाज आबद्ध था तो दूसरी ओर धार्मिक रूढ़ियों और वर्जनाओं से अधिकांश लोग घिरे हुए थे। तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को सामने रखा जाए तो गांधी जी के असहयोग आंदोलन ने भारतीयों को उद्‌बुद्ध किया था। ऐसे समय में सृजित साहित्य में पलायनवादिता का स्वर भला कैसे उभर सकता है। इस युग के स्रष्टाओं ने अपनी रचनाओं में स्वप्नों को पूर्ण करने का प्रयास किया है। सामंती व्यवस्था से मुक्ति, धार्मिक कट्टरता का त्याग एवं साम्राज्यवादी शक्ति से मुक्ति-इन रचनाकारों के स्वप्न थे।

स्वप्नों को साकार बनाने के लिए इन्हें बाहरी तथा भीतरी संघर्षों का सामना करना पड़ा। इन संघर्षों की अभिव्यक्ति छायावाद युग में हुई है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में छायावाद को शक्तिकाल के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने छायावादी रचनाओं में ज्योति और जागरण की चेतना को रेखांकित किया है। उनकी मान्यता है-'अपने व्यक्तिगत प्रणय और राष्ट्र-प्रेम की अनुभूति में और उनके संश्लेष में छायावाद मूलत: शक्ति काव्य है।'

नामवर सिंह तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आलोच्य काव्यधारा में जागरण पर बहुत अधिक महत्व दिया है। वास्तव में छायावादी कवियों ने सुप्त समाज को जागृत किया है। उन्होंने ओजस्वी स्वर में जागरण-गीत भी खूब लिखे हैं।

प्रसाद ने न केवल अपनी कविताओं में बल्कि अपने नाटकों-चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त में भी जातीय जागरण का प्रसार किया है। स्कंदगुप्त का प्रसिद्ध गीत 'हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार' आत्म-गौरव का ओजस्वी उद्‌बोधन है। प्रसाद की दृष्टि में भारत संस्कृति की जननी है। बुद्ध की अहिंसा, अशोक की करुणा आदि की प्रदात्री भारत भूमि ही है। संसृति में संस्कृति का प्रचार भारत द्वारा हुआ है। मातृगुप्त के द्वारा प्रस्तुत उद्‌बोधन गीत एक ओर हताश, उदास, निराश भारतीयों में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर भारत की दिव्य, भव्य एवं उदात्त परंपरा का प्रतीक बनकर आता है। भारतीय संस्कृति एवं उसकी ऐतिह्यमय परंपरा का निदर्शन भी प्रस्तुत होता है-

'वही है रक्त, वही है देह, वही साहस है, वैसा ज्ञान
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान।'

'पेशोला की प्रतिध्वनि' शीर्षक कविता में निर्धूम भस्मरहित ज्वलन पिंड के अरुण करुण बिंब का जो चित्रण किया है, वह अत्यंत प्रतीकात्मक है। यहाँ भी अस्तगामी सूर्य के बहाने कवि ने भारतीय अस्तगामी गौरवोज्ज्वल गाथा का प्रतिबिंब उकेरना चाहा है। परोक्ष रूप में भारतीयों को प्रेरित किया है। उन्हें जगाया है। जागरण का संदेश दिया है। तभी तो कवि चुनौती से भरपूर ललकार सुनाता है-

कौन लेगा भार यह? कौन विचलेगा नहीं।

प्रसाद जी के काव्य-संग्रह 'लहर' की 'बीती विभावरी जाग री'। कविता को भले ही प्रभाकर श्रोत्रिय विशुद्ध प्रकृति-प्रेम आधारित कविता मानें, परंतु भारतीय परतंत्रकालीन उक्त कविता राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम की एक महत्वपूर्ण कविता मानी

जा सकती है। यह भी एक जागरण गीत है। सखी (आली) के बहाने जातीय जागरण का प्रसार किया गया है। 'अब जागो जीवन के प्रभात', 'अपलक जगती रहो एक रात', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' आदि अनेक कविताओं के माध्यम से कवि ने शक्ति का आवाहन किया है। वैयक्तिक प्रेम के साथ राष्ट्र-जागरण के भाव को कवि ने समन्वित रूप प्रदान किया है। कवि प्रसाद की मान्यता है कि मनुष्य मात्र में जागरण विद्यमान है। यह भाव सुषुप्तावस्था में है। चैतन्य एवं शक्ति के आवाहन को सामने रखकर प्रसाद जी ने जागरण-गीत लिखे हैं। ये गीत तत्कालीन राष्ट्रीय संदर्भ, स्वाधीनता की चिंता आदि से भी ओतप्रोत है। ध्यातव्य है कि प्रसाद के समकालीन कवि निराला, पंत तथा महादेवी ने भी अपनी कविताओं में जागृति के स्वर को निनादित करने का प्रयास किया है।

निराला के जागरण गीतों से शक्तिकाव्य को अधिक बल मिला है। 'जागो फिर एक बार' (1921) में आत्म-गौरव एवं उद्‌बोधन का भाव व्यक्त हुआ है। अकाली सिक्खों के शौर्य की वाणी को स्मरण करते हुए निराला कहते हैं-

'शेरों की माँद में
आया है आज स्यार
जागो फिर एक बार।'

'बादलराग शृंखला' की कविताओं में स्वतंत्रता केंद्रीय संवेदना के रूप में उभरती है। सोवियत क्रांति में सर्वहारा वर्ग ने जो भूमिका निभाई थी कुछ ऐसी आशा निराला को भारतीय कृषक एवं अन्य वर्ग से संबंधित शोषितों से रही होगी। 1923 में विप्लव के बादल का आह्वान करते हुए निराला का चित्रण द्रष्टव्य है-

'जीर्ण-बाहु है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर।'

'प्रिय मुदित दृग खोलो', 'जागा दिशा ज्ञान', 'जागो जीवन धानिके' आदि अनेकानेक कविताओं में निराला ने जागरण गीत लिखे हैं। इन गीतों के माध्यम से कवि मनुष्य के हृदय के किसी कोने में निहित सुषुप्ति को चौतन्यावस्था प्रदान करने के लिए प्रतिश्रुत प्रतीत होता है। उक्त गीतों के माध्यम से संघर्ष एवं क्रांति के कवि निराला ने आम आदमी के संघर्ष की अभिव्यक्ति की है। उन्होंने जागरण के माध्यम से आम आदमी को संघर्षशील बनाने का भी प्रयास किया है। शक्ति के आवाहन हेतु कवि ने जागरण-गीत लिखे हैं। निराला की कविता तुलसीदास में भी यह आह्वान है-

'जागो, जागो, आया प्रभात
बीती वह, बीती अंध रात।'

निराला की रचनाओं में शक्ति-चेतना निहित है। परतंत्रता ही नहीं रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से भी मुक्त होना निराला की शक्ति-चेतना का मूलकेंद्र है। इनकी शक्ति चेतना बैसवाड़े के पुरुषत्व से ऊर्जस्वित ही नहीं थी बल्कि बंगीय प्रांत की सुकोमलता से भी प्रभावित थी। इसलिए इनके जागरण गीतों तथा लंबी कविताओं में ओजस्विता का स्वर संचार होता है, नई ऊर्जा से राष्ट्रीय आंदोलन मजबूत होता है। निराला ने शक्ति की मौलिक कल्पना की है। शक्ति-साधना में मनुष्य मात्र को विवेकवान बनाने का सपना है। उनके समाज में देश के नायक तथा अधिनायक विवेकशून्य हो दूसरे के हाथों की कठपुतली बनने लगे थे। ऐसे में निराला ने ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया। ज्ञानविहीन होकर ये लोग जाति-वर्ण-धर्म की संकीर्णता से ऊपर नहीं उठ पा रहे थे। निराला ने सरस्वती (ज्ञान की प्रदात्री) की वंदना की। ज्ञान की ज्योति प्रवाहित करने का अनुरोध किया ताकि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, छुआछूत के तमाम भेद-भाव मिट सकें।

शक्ति की मौलिक कल्पना करना छायावादी काल के लिए आवश्यक था। यह मनुष्य को केवल जगाती नहीं उसे आगे बढ़ाने में भी सहायक होती है। इस शक्ति की साधना के लिए न तो फूलों की आवश्यकता है और न अक्षत दुर्वादल की। व्यक्ति के आत्म-प्रत्यय को झंकृत करने की जरूरत है। शक्ति की मौलिक कल्पना का रूप बुद्धिजीवियों द्वारा संगठित हो सकता है। यह रूप जनशक्ति बनकर उभरे और बंधनमात्र को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास करे। 'आराधन का दृढ़ आराधन' में उत्तर देने के पश्चात शक्ति का मौलिक रूप नवीन हो सकता है। इससे जय-जयकार की अनुगूँज उत्पन्न होती है।

छायावाद युग में शक्ति मुट्ठी भर लोगों की वंदिनी बनी हुई थी। हालाँकि आज भी शक्ति या तो सत्तासीनों अथवा अंडरवर्ल्ड के डॉनों के हाथ की कठपुतली बनी हुई है। रामायण काल में रावण, महाभारत काल में कौरव एवं निराला के समाज में अंग्रेजों का भरपूर साथ दिया है शक्ति ने। अन्याय एवं अत्याचार की क्रूर दानव-लीला से प्रपीड़ित आम आदमी का संताप व्यक्त होता है-

'अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति।'6

इस शक्ति के स्वरूप को जानना भी आवश्यक है। यह शक्ति अंतस उत्पन्न है, आंतरिक है, बाह्य नहीं। यह शक्ति नवीन तो है ही, मौलिक भी। यह शक्ति इंपोर्टेड नहीं, सेल्फ आर्न्ड (स्वार्जित) है।

'कामायनी' तथा 'राम की शक्तिपूजा' दोनों रचनाओं में दानवी वृत्ति पर स्वस्थ संस्कृति या शक्ति की विजय है। प्रसाद जी की दृष्टि में विनाश एवं निर्माण के द्वंद्व के मध्य मानवीय संस्कृति का विकास होता है-'पुरातनता का यह निर्भीक सहन न करती प्रकृति पल एक।' नश्वरता ही सृजन का मार्ग प्रशस्त करती है। पुरानी टूटी-फूटी वस्तुओं को गलाकर नई चीजें बनाई जाती हैं। कामायनी में प्रसाद ने इस निर्माण की शक्ति को पहचाना है। उन्होंने सर्जनात्मक मूल्य की चिरंतनता को स्वीकार किया है। मानवीय चेतना के विकास को प्रस्तुत किया है-

'शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय
समन्वय करे उनका समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।'

राष्ट्रीयता शक्तिकाव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। परंतु शक्तिकाव्य का सामान्य अर्थ राष्ट्रीय-काव्य नहीं है। उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि हेतु 'विजयिनी मानवता' पदबंध देखा जा सकता है। मानवता की चिंता कवि की प्रमुख चिंता बनकर आई है। इसकी विजय की कामना सबसे बड़ी उपलब्धि है। शक्तिकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने व्यक्ति से मनुष्य, मनुष्य से जातीयता, जातीयता से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वभावना की यात्रा की है। पंत ने मानवतावाद की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है-

'सुमन सुंदर, विहग सुंदर, मानव तुम सबसे सुंदरतम।'

इस संदर्भ में महादेवी के गीतों को 'आँसू से गीले' कहकर उपेक्षित कर देना भी अनुचित है। ये आँसू से भीगे गीत निराशा के भाव प्रदर्शित नहीं करते। ये रचनात्मक आस्था प्रकट करते हैं। महादेवी दुःखव्रती अवश्य हैं परंतु सृजन हेतु उन्मद भी हैं-

'दुखव्रती निर्माण उन्मद, यह अमरता नापते पद।'

प्रसाद जी ने काम के उदय को रहस्यात्मक शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रद्धा प्रेरणादायिणी, शक्तिप्रदायिनी है। यह शक्ति-स्वरूप है। काम सर्जनात्मक मूल्य का प्रतीक है-

'जिसे तुम समझते हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्यमय वरदान, उसे तुम कभी न जाओ भूल।'

निरालाकृत 'तुलसीदास' में तुलसीदास के कामातुर रूप में रत्नावली जाग्रत होती है-

'जागी जोगिनी अरूप-लग्न वह खड़ी शीर्ण प्रिय-भाव-मग्न निरुपमिता।'

'सांध्यगीत' एवं 'संध्यासुंदरी' कविताओं के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतर्विरोधी भावों से शक्ति-काव्य को अधिक बल मिला है। अंतर्विरोध किसी भी श्रेष्ठ साहित्य की कमजोरी नहीं है। उसकी शक्ति के रूप में उसकी खास पहचान बनती है। शयन एवं जागरण के द्वंद्व से शक्ति काव्य अद्‌भुत ऊर्जा प्राप्त करता है-

निराला-दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे।

महादेवी-चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना जाग तुझको दूर जाना।

यह अंतर्विरोध युगीन द्वंद्वात्मक अंतर्विरोधी प्रवृत्ति का परिचायक है। हताशा के बीच आशा का प्रज्ज्वलन इस युग और साहित्य की विशेषता है। यह अंतर्विरोध उसकी खास पहचान भी है। रूमानियत से शक्ति अर्जित करने वाली महादेवी लिखती हैं-

'तू जल-जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल-खिल
मधुर मधुर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।'

सृजन के केंद्र में कल्पना की अहम भूमिका है। शक्तिकाव्य में कल्पना काव्य शक्ति है। कल्पना व्यक्ति के अभिन्न अंग के रूप में आती है। इसके द्वारा ही कवि दुखद वर्तमान में भी मनोहर स्वप्न-लोक की सृष्टि करने का सामर्थ्य प्रदर्शित करता है। यह कल्पना के पंखों के सहारे अतीत के स्वर्णकाल में विचरण कर पाता है। वहाँ से लौट आता है। वह कल्पना के सहारे क्षितिज के उस पार से वापस आ जाता है एवं भविष्य का स्वप्नलोक बना लेता है। इसी शक्ति से कवि का शाश्वत सौंदर्य सृजन संभव होता है। संसार नश्वर है। परंतु इसी नश्वरता में अनश्वरता की खोज हो जाती है। कम से कम इस खोज की शक्ति अर्जित हो जाती है-

'तुम सत्य रहे चिर सुंदर
मेरे इस मिथ्या जग के।'

शक्ति-काव्य के रूप में छायावाद की चर्चा करते समय नारी की प्रधानता को स्वीकार करने वाले कवियों की दृष्टि पर भी विचार करना उचित है। इस काल में पंत जी ने नारी को 'अकेली सुंदरता कल्याणी' ही नहीं कहा बल्कि उसे समस्त ऐश्वर्यों की खोज के रूप में प्रकट किया है। नारी शक्ति के विविधरूपों का स्मरण करेत हुए पंत ने कहा है-'देवि, माँ, सहचरि, प्राण'। इस काल के कवियों ने नारी को भारतीय जागरण का आधारस्रोत बताया है। तत्कालीन राजनीतिक जीवन में नारी की सहयोगिता का भी वर्णन मिलता है। निराला, पंत आदि ने प्रकृति को नारी-रूप में चित्रित किया है। छायावाद युग में नारी को प्रियतमा के रूप में अधिक स्वीकारा गया है, पत्नी के रूप में कम। प्रेयसी के सम्मान तथा समान भाव के आधार पर देखा गया। इस संदर्भ में नामवर सिंह की मान्यता भी है-'साहित्य में पहली बार स्त्री और पुरुष के बीच वैयक्तिक स्वच्छंद प्रेम का अभ्युदय हुआ।'

'राम की शक्ति पूजा' में राम स्वयं को धिक्कारने का एक कारण यह भी है कि जानकी (शक्ति की प्रतिमूर्ति) का उद्धार न हो सका। निराला ने पत्नी-प्रेम को आधार बनाकर 'तुलसीदास' 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविताएँ लिखीं तो पुत्री स्नेह को अपनाकर 'सरोजस्मृति'। आशय यह है कि छायावाद युग में नारी शक्ति की प्रतिमूर्ति आधारशिला तथा मूलकेंद्र थी। पूर्णशक्ति अर्जित करने के पश्चात् महादेवी कहती हैं-

'मैं अनंत पथ में लिखती जो
सस्मित सपनों की बातें
उनको कभी न धो पाएँगी
अपने आँसू से रातें।'

छायावादी काव्य में शक्ति के विविध रूप विद्यमान हैं। छायावदी रचनाएँ काव्य-शक्ति के रूप में ही नहीं, शक्ति काव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित हैं। ये रचनाएँ व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व को अपार शक्ति प्रदान करती हैं। शक्ति काव्य में श्रम है, सौंदर्भ भी है। श्रम और सौंदर्य का अद्‌भुत समन्वय साधित हुआ है-'श्याम तन भर बंधा यौवन, नत नयन, प्रिय कर्मरत मन।' इस काव्यांदोलन ने ऊर्जस्वित शक्ति-साधना से हिंदी साहित्य को परिपूर्ण कर दिया है। बंधनों, अंधविश्वासों, दकियानुसी विचारों, पुरानी मान्यताओं तथा गलित परंपराओं से

मुक्ति प्रदान करने की अपार शक्ति छायावादी रचनाओं में निहित है। अत: छायावादी काव्य यथार्थत: शक्तिकाव्य है।

छायावाद युगीन अन्य काव्यधाराएँ

हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य

छायावाद-युग में हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य की भी प्रभूत परिमाण में रचना की गयी-एक और तो। ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिशंकर शर्मा, उग्र, बेढब बनारसी प्रभृति कुछ कवियों ने इस काव्यधारा का प्रमुख रूप में अवलंबन लिया और दूसरी ओर ऐसे कवियों की संख्या भी कम नहीं है, जिन्होंने समानत: अन्य विषयों पर काव्य-रचना करने पर भी प्रसंगवश हास्य-व्यंग्य को स्थान दिया है। 'मनोरंजन' के संपादक ईश्वरीप्रसाद शर्मा इस युग के प्रथम उल्लेखनीय व्यंग्यकार हैं। 'मतवाला' 'गोलमाल', 'भूत', 'मौजी', 'मनोरंजन' आदि पत्रिकाओं में इनकी अनेक हास्यरसात्मक कविताओं का प्रकाशन हुआ था। हरीशंकर शर्मा इस काव्यधारा के अन्य वरिष्ठ कवि। यद्यपि छायावाद-युग में उनका कोई कविता-संकलन प्रकाशित नहीं हुआ, किन्तु 'पींजपोल' और 'चिड़ियाघर' शीषर्क गद्य-रचनाओं में कुछ हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं और पैरोडियों का इन्होंने कहीं-कहीं समावेश किया है।

छायावाद-युग के व्यंगकारों में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (1900-1967)का अलग ही स्थान है। इसकी व्यंग्य कविताओं और पैरोडियों में जो ताजगी और निर्भीकता मिलती है, वह आज भी उतना ही प्रभावित करती है। इसी कोटि के एक अन्य प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्यकार थे-कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' (1895-1968)। छायावाद-युग में ही नहीं, उसके बाद भी समसामयिक सामाजिक-धार्मिक आचार-व्यवहार को ले कर इन्होंने व्यंग्य-विनोद की जो धारा प्रवाहित की, वह अपनी व्यावहारिक भाषा-शैली के कारण और भी अधिक उल्लेखनीय है। हास्य की छटा बिखेरने के लिए इन्होंने अंग्रेजी और उर्दू की शब्दावली का भी खुल कर प्रयोग किया है। उपमा और वक्रोक्ति के प्रयोग द्वारा व्यंग्य को तीखा बनाने में भी ये सिद्धहस्त थे। इनकी काव्य-शैली का एक उदाहरण देखिए –

बाद मरने के मेरे कब्र पर आलू बोना
हश्र तक यह मेरे ब्रेकफास्ट के सामां होंगे,

उम्र सारी तो कटी घिसते कलम ए बेढब
आखिरी वक्त में क्या खघक पहलवां होंगे।

आलोच्य युग में हास्य-व्यंग्य को प्रमुखता देने वाले अन्य समर्थ कवि हैं-अन्नपूर्णानंद (महाकवि चच्चा), कान्तानाथ पांडेय 'चोंच' और शिवरत्न शुक्ल। अन्नपूर्णानंद ने पश्चिम के अंधानुकरण, सामाजिक रूढ़ियों की दासता, मानव-स्वार्थ आदि विषयों पर उत्कृष्ट व्यंग्य-काव्य रचना की है। कान्तानाथ पांडेय 'चोंच' की कृतियों में 'चोंच-चालीसा', 'पानी पांडे' और 'महकावि सांड़' उल्लेखनीय हैं, जिनमें से अंतिम दो में इनकी कुछ हास्य-रसात्मक कहानियां भी समाविष्ट हैं।

ब्रजभाषा-काव्य

आधुनिक युग को ब्रजभाषा-काव्य की एक दीर्घ-समुन्नत परंपरा प्राप्त हुई थी, इसलिए आधुनिक युग के आरंभिक कवियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे उस परंपरा से प्रभावित हों-प्रभावित ही न हों, उसे आगे भी बढ़ायें। भारतेंदु हरिश्चंद्र और ब्रजभाषा के परवर्ती कवियों की रचनाएं प्राचीन परंपरा से प्रभावित होते हुए भी नवीनता की ओर-नये विषयों और नयी अभिव्यंजना पद्धति की ओर अग्रसर हुई। किंतु छायावाद-युग में ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा एक गौण धारा के रूप में ही दिखायी देती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक काल में गद्य-रचना की भांति काव्य-रचना के लिए भी खड़ीबोली को स्वीकार कर लिया गया। फिर भी काव्य की भाषा को ले कर काफी दिनों तक तीव्र विवाद होता रहा। ब्रजभाषा के समर्थन में यह तर्क दिया जाता था कि यदि हम सूर, तुलसी, सेनापति, बिहारी और घनानंद जैसी समर्थ प्रतिभाओं की परंपरा को भूलना नहीं चाहते तो हमें ब्रजभाषा को साहित्य में जीवित रखना होगा और इसका उपाय यह है कि काव्य में ब्रजभाषा को ही स्वीकार किया जाये। साथ ही यह भी कहा जाता था कि ब्रजभाषा को अनेक महान प्रतिभाओं ने संवार कर काव्य के उत्तम माध्यम के रूप में ढाल दिया है, जबकि खड़ीबोली का रूप अव्यवस्थित, कर्कश और खुरदरा है और वह काव्य-भाषा के गुणों से रहित है। इसलिए कवियों और विद्वानों के एक वर्ग ने ब्रजभाषा का जोरदार समर्थन किया। बाद में जब प्रसाद, निराला, आदि छायावादी कवियो ने खड़ीबोली-कविता में भी अनुभूतियो की मार्मिक अभिव्यक्ति कर उसकी अतरंग शक्ति को प्रत्यक्ष कर दिखाया, तब खड़ीबोली-कविता का विरोध शांत हो गया। इसके बावजूद अनेक कवि ब्रजभाषा में काव्य रचना करते रहे। इनमें रामनाथ जोतिसी (1874), रामचंद्र शुक्ल

(1884–1940), राय कृष्णदास (1892–1980), जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' (1895–19561) दलारेलाल भार्गव (1995), वियोगी हरि (1896–1988), बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अनूप शर्मा (1900–1966), रामेश्वर 'करुण (1901)'। किशोरीदास वाजपेयी, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश (1907–1957)' आदि का उल्लेख मुख्य रूप से अपेक्षित हैं। रामनाथ जोतिसी की रचनाओं में 'रामचंद्रोदय काव्य' (1936) मुख्य हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने ब्रजभाषा में अनेक स्फूट रचनाएँ लिखी हैं, किन्तु इनके कृतित्त्व का वैशिष्टय 'उर्मिला' महाकाव्य के पंचम सर्ग में लक्षित होता है इसमें विरहिणी नायिका की मनोदशाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है यथा–

वे स्वपिल रतिया मधुर, वे बतिया चुपचाप।
हवै विलीन हिय में बनी आज विछोह विलाप॥
साजन संस्मृति नेह की, खटकि खटकि रहि जाए॥
अटकि अटकि आंसू झरे, भरे हृदय निरुपाय॥

छायावाद–युग में ब्रजभाषा काव्य के उन्नयन में अनूप शर्मा का योगदान अविस्मरणीय है। चम्पू–काव्य 'फेरि मिलिबौ' (1938) में कुरुक्षेत्र में राधा–कृष्ण के पुनर्मिलन का वर्णन है, 'श्रीमद्भागवत पुराण' के संबद्ध प्रसंग पर आधारित हैं। इसका कथानक 75 प्रसंगों में विभाजित है तथा गद्य और पद्य दोनों में ब्रजभाषा को अपनाया गया है। कथा–प्रवाह, रस–व्यंजना, चरित्र–चित्रण की स्वाभाविकता और भाषा की सहज मधुरता इस कृति की सहज विशेषताएं हैं।,

गद्य–साहित्य

छायावादयुगीन गद्य–साहित्य के अध्ययन–अनुशीलन के पूर्व इस युग की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त सर्वेक्षण आवश्यक है, क्योंकि युगविशेष का साहित्य जहां पवर्ती साहित्य से जुड़ा होता है, वही समसामयिक वातावरण और रचना–प्रवृत्तियों का भी उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक दृष्टि से इस युग में महात्मा गांधी का नेतृत्व जनता को सत्य, अहिंसा और असहयोग के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए निरंतर प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान कर रहा था। 1919 ई . के प्रथम अवज्ञा आंदोलन की असफलता, जलियांवाला कांड तथा भगतसिंह को प्रदत्त मृत्युदंड जैसी घटनाओं से जनता का मनोबल कम नहीं हुआ था, साइमन कमीशन के बहिष्कार तथा नमक–कानून–भंग सदृश जन–आंदोलनों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। पश्चिमी सभ्यता तथा

संस्कृति के प्रभावस्वरूप इस युग के सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आ गया था। युवा मन परंपरागत रीति-रिवाजों को तोड़ कर पश्चिमी राष्ट्रों के स्वतंत्र नागरिकों के समान जीवन-यापन के लिए लालायित था। सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों की जैसी स्पष्ट छाप छायावाद-युग के गद्य-साहित्य में लक्षित होती है, वैसी काव्य-साहित्य में नहीं होती। वस्तुत–आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्रेरणा से हिंदी-गद्य का व्याकरण सम्मत परिमार्जित रूप प्रायः स्थिर हो चुका था, फलस्वरूप समकालीन परिवेश के संदर्भ में विभिन्न गद्यविधाओं का यथार्थोन्मुख विकास-परिष्कार स्वाभाविक था। इसलिए छायावाद-युग का गद्य-साहित्य पूर्ववर्ती युगों की तुलना में अधिक विकासशील और समृद्ध है।

नाटक

नामकरण की दृष्टि से विचार करें तो हिंदी-नाट्यसाहित्य के इस युग को 'प्रसाद-युग' कहना युक्तिसंगत होगा। यद्यपि प्रसाद जी ने सन् 1918 के पूर्व ही नाटकों की रचना आरंभ पर उनकी आरंभिक रचनाएं–सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, करुणालय, राज्यश्री आदि नाट्यकला की दृष्टि से अपरिपक्व हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपने माध्यम की खोज कर रहे थे। यह माध्यम उन्हें आलोच्य युग में प्राप्त हुआ– विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (रचना 1923-24, प्रकाशन 1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926), स्कंदगुप्त (1928), एक चूंट (1930), चंद्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) शीर्षक नाट्यकृतियों के रूप में। इनके माध्यम से उन्होंने हिंदी-नाट्यसाहित्य को विशिष्ट स्तर और गरिमा प्रदान की। वस्तुत– हिंदी-उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचंद का है, नाटक के क्षेत्र में लगभग वही स्थान प्रसाद का है।

एकांकी नाटक

हिंदी में एकांकी नाटकों का प्रचलन विशेष रूप से विवेच्यकाल के अंतिम कुछ वर्षों में ही हुआ, यों आरंभ से ही एकांकी लिखने के छटपुट प्रयास होने लगे थे। उदाहरणस्वरूप, महेशचंद्र प्रसाद के 'भारतेश्वर का संदेश' (1918) शीर्षक पद्यबद्ध एकांकी, देवीप्रसाद गुप्त के 'उपाधि और व्याधि'(1921) तथा रूपनारायण पांडेय द्वारा अमूल्यचरण नाग के बंगला-नाटक 'प्रायश्चित' के आधार पर लिखित 'प्रायश्चित प्रहसन' (1923) का उल्लेख किया जा सकता है।

ब्रिजलाल शास्त्री-कृत 'वीरांगना' (1923) में 'पद्मिनी ', 'तीन क्षत्राणियां', 'पन्ना', 'तारा', 'कमल' 'पद्मा', 'कोड़मदेवी', 'किरणदेव 'प्रभृति एकांकी संगृहित हैं। बदरीनाथ भट्ट के एकांकी-संग्रह 'लबड़ धो धों' (1926) में मनोरंजक प्रहसन संकलित हैं। हनुमान शर्मा-कृत 'मान-विजय' (1926), बेचन शर्मा 'उग्र' के एकांकी-प्रहसनों का संग्रह 'चार बेचारे' (1929) और प्रसाद का 'एक घूंट' (1930) भी इस काल की उल्लेखनीय रचनाएं हैं। उग्र जी ने समसामयिक परिस्थितियों का व्यंग्यपूर्ण शैली में निर्मम विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि एकांकी-रूप में नाटकों की रचना बहुत पहले होने लगी थी। सच पूछे तो यह विधा हमारे लिए बिलकुल नयी नहीं थी।

उपन्यास

हिंदी उपन्यास साहित्य के संदर्भ में आलोच्य युग को 'प्रेमचंद युग' की संज्ञा लगभग निर्विवाद रूप में मिल चुकी है क्योंकि 'सेवासदन' (1918) का प्रकाशन न केवल प्रेमचंद (1880-1936) के साहित्यिक जीवन की अपितु हिंदी उपन्यास की भी एक महत्वपूर्ण घटना थी 'सेवासदन' पूर्वर्ती कथा साहित्य का अभूतपूर्व विकास था इससे पहले कथा साहित्य में या तो अजीबोगरीब घटनाओं के द्वारा कुतुहल और चमत्कार की सृष्टि रहती थी अथवा आर्य समाज और तत्समान अन्य सामाजिक आंदोलन से प्रभावित समाज-सुधारो का प्रचार ही उसकी उपलब्धि रह गईं थी। 'सेवासदन' के बाद प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' (1922)। 'रंगभूमि'(1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1927), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1933) और 'गोदान' (1935 शीर्षक सात मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुए। इस बीच उन्होंने अपने दो पुराने उर्दू उपन्यासों को भी हिंदी में रूपातंरित और परिष्कृत करके प्रकाशित किया। 'जलवए ईसार' का रूपांतर 'वरदान' 1921 में प्रकाशित हुआ तथा 'हमखुर्मा व हमसवाब' के पूर्व प्रकाशित हिंदी-रूपांतर 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' को परिषकृत कर उन्होंने 'प्रतिज्ञा' (1929) शीर्षक से उसे सर्वथा नये रूप में प्रकाशित कराया। एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आरंभ में प्रेमचंद अपने उपन्यास पहले उर्दू में लिखते थे और फिर स्वयं उनका हिंदी-रूपांतर करते थे। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' क्रमशः 'बाजारे-हुस्न', 'गोशए-आफियत' और 'चौगाने-हस्ती' नाम से उर्दू में लिखे गये थे, किंतु प्रकाशित पहले ये हिंदी में ही हुए। वैसे, मूल रूप से हिंदी में लिखित उनका पहला उपन्यास 'कायाकल्प'

है। इसके बाद उन्होंने सभी उपन्यासों की रचना हिंदी में ही की, उर्दू की बैसाखी की जरूरत उन्हें अब नहीं रह गयी थी।

कहानी

हिंदी कहानी का प्रकार और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से वास्तविक विकास विवेच्य काल में ही हुआ, यह एक निर्विवाद तथ्य है। जिस प्रकार प्रेमचंद इस काल के उपन्यास-साहित्य के एकछत्र सम्राट् बने रहे, उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी उनका स्थान अद्वितीय रहा। इस अवधि में उन्होंने लगभग दो सौ कहानियां लिखीं। उनके कहानी-लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वयं उनकी ही कहानियों में हिंदी कहानी के विकास की प्रायः सभी अवस्थाएं दृष्टिगोचर हो जाती हैं। उनकी आरंभिक कहानियों में किस्सागोई, आदर्शवाद और सोद्देश्यता की मात्रा अधिक है। यद्यपि व्यावहारिक मनोविज्ञान का पुट दे कर मानवचरित्र के सूक्ष्म उद्घाटन की क्षमता के फलस्वरूप प्रेमचंद ने अपनी कहानियों को विशिष्ट बना दिया है। पर उनकी आरंभिक कहानियों का कच्चापन और यथार्थ की उनकी कमजोर पकड़ अत्यंत स्पष्ट है। इन कहानियों में हम एक अत्यंत प्रबुद्ध कलाकार को कहानी के सही ढांचे या शिल्प की तलाश में संघर्षरत पाते हैं। 'बलिदान' (1918), 'आत्माराम' (1920), 'बूढ़ी काकी' (1921), 'विचित्र होली' (1921), 'गृहदाह' (1922), 'हार की जीत' (1922), 'परीक्षा' (1923), 'आपबीती' (1923), 'उद्धार' (1924), 'सवा सेर गेहूं' (1924), 'शतरंज के खिलाड़ी' (1925), 'माता का हृदय' (1925), 'कजाकी' (1926), 'सुजान भगत' (1927), 'इस्तीफा' (1928), 'अलग्योझा' (1929), 'पूस की रात' (1930), 'तावान' (1931), 'होली का उपहार' (1931), 'ठाकुर का कुआँ' (1932), 'कफन' (1936) आदि कहानियो में इस तलाश की रेखायें स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

इस काल के दूसरे प्रमुख कहानीकार जयशंकर प्रसाद। यद्पि उनकी पहली कहानी 'ग्राम' सन 1911 में ही 'इंदु' में छप चुकी थी, तथापि उनके महत्त्वपूर्ण कहानी-संग्रह' प्रतिध्वनि (1926), 'आकाशदीप' (1929), 'आंधी' (1931), इंद्रजाल' (1936) आदि विवेच्य काल सेही प्रकाश में आये। कहानी-लेखक के रूप में उनकी प्रकृति प्रेमचंद से बिलकुल अलग है। जहां प्रेमचंद का रुझान जीवन के चारों ओर फैले यथार्थ में था, वहीं प्रसाद रूमानी स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी कहानियों में जीवन के सामान्य यथार्थ को कम और स्वर्णिम अतीत

के गौरव, मसृण भावुकता, कल्पना की ऊंची उड़ान तथा काव्यात्मक चित्रण को अधिक महत्त्व मिला है। उनकी कुछ कहानियां तो आधुनिक कहानी की तुलना में संस्कृत-गद्यकाव्य के निकट हैं।

राष्ट्रीय- सांस्कृतिक काव्यधाराएँ

हिंदी साहित्य में छायावाद का प्रवर्तन द्विवेदी युग के अवसान के साथ-साथ हो गया था। छायावादी काव्य प्रवृत्ति के कुछ सूत्र दो-तीन कवियों की रचनाओं में देखे जा सकते हैं, उनका उल्लेख हमने छायावाद शीर्षक प्रकरण में किया है। छायावाद युग के समकालीन कुछ ऐसे कवि हैं जिन्होंने विभिन्न विषयों की मुक्तक रचनाएँ प्रस्तुत कर अपनी पहचान छायावाद से पृथक् बनायी। काल की दृष्टि से उनका समय अवश्य छायावाद की सीमा में आता हैं। भाव और अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से उन्हें छायावादी कवि नहीं कहा जा सकता। इन कवियों की रचनाओं में राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा को प्रमुख स्थान मिला है। उसका एक विशेष कारण है। सन 1922 से 32 तक का समय अहिंसात्मक आंदोलन की दृष्टि से राष्ट्रीय जागरण का काल था। ब्रिटिश शासन की दासता से मुक्ति पाने के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस महात्मा गाँधी के नेतृत्व में एक देशव्यापी आन्दोलन चला रही थी और उसका प्रमाभ देश की सभी भाषाओं के रचनाकारों पर पड़ रहा था। हिन्दी में भी उस समय ऐसे अनेक कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने राजनीति तथा भारतीय संस्कृति को केन्द्र में रखकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। राजनीतिक जन जागरण के क्षेत्र में इन कवियों का योगदान सदैव स्मरण किया जायेगा। द्विवेदी युग के कवियों की चर्चा में हमने ऐसे कई कवियों के नाम संकेतित किये हैं जिन्होंने छायावाद युग में रहते हुए भी युगधर्म के साथ विशिष्ट आन्दोलनों को ध्यान में रखकर, देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखीं।

उनमें प्रमुख हैं– माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद, रामधारी सिंह दिनकर, उदयशंकर भट्ट आदि।

'माखनलाल चतुर्वेदी' (1889-1968)– श्री चतुर्वेदी का जन्म 1889 ई. में मध्यप्रदेश के होशंगाबाद के गांव बावई में हुआ था। इनके पिता अध्यापक थे और इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में हुई। शैशव से ही कविता के प्रति इनका लगाव था। वैष्णव संस्कार वाले परिवार में पूजा-पाठ आदि का प्रचलन था इसलिए चतुर्वेदीजी भी प्रेमसागर जैसी पुस्तकें बचपन से ही पढ़ने लगे थे। युवा

होने पर एक स्कूल में अध्यापक हो गये किन्तु स्वतन्त्रचेता कवि होने के कारण उनका स्कूल की अध्यापकी में मन नहीं लगा और त्यागपत्र देकर पत्रकारिता के क्षेत्र में चले गये। पहले प्रभा नामक एक मासिक पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम उसके बाद प्रताप तथा कर्मवीर में लम्बे अरसे तक सम्पादन कार्य से सम्बटर इन्होंने अपना उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' रखा जो कि उपनाम की परम्परा से कुछ हटकर था। उनकी लोकप्रिय कविता है पुष्प की अभिलाषा।

–चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊं,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि,डाला जाऊं,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ू,भाग्य पर इठलाऊं
मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (1887–1960)रू नवीन का जन्म 1897 ई . में ग्वालियर राज्य के भयाना गाँव में हुआ था। हाईस्कूल की परीक्षा पास करने के बाद ये गणेशशंकर विद्यार्थी के पास गये और उन्होंने इनको कॉलेज में दाखिल करा दिया। सन् 1921 के गाँधीजी के आह्वान पर कॉलेज छोड़कर राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे। विद्यार्थीजी के पत्र ' प्रताप' में सह–सम्पादक का कार्य भी किया और छात्र–जीवन से ही राजनीतिक विषयों पर लेख, कविता आदि लिखना प्रारम्भ किया। लम्बे समय तक राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने के कारण इन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। वहाँ भी उन्होंने अपना काव्य–प्रेम अक्षुण्ण रखा और फुटकर कविताएँ लिखते रहे। इनका पहला कविता संग्रह कुंकुम 1935 में प्रकाशित हुआ। इन्होंने एक उर्मिला शीर्षक काव्य भी लिखा था जो बहुत वर्षों तक तक अप्रकाशित पड़ा रहा। इस काव्य में उन्होंने युगानुरूप कुछ सन्दर्भ जोड़ने का प्रयास किया है। उर्मिला के चरित्र के माध्यम से भारत की प्राचीन संस्कृति को नवीन परिवेश में प्रस्तुत करने का उनका प्रयास स्तुत्य है। उनकी रचनाओं में प्रणय और राष्ट्र प्रेम दोनों भावों की अभिव्यक्ति हुई है। उनके अन्य प्रमुख ग्रंथों के नाम हैं अपलक, रश्मि रेखा, हैंम विषपायी जन्म के आदि।

जयशंकर भट्ट(1898–1961)–उदयशंकर भट्ट (1898–1961)– श्री भट्ट का जन्म उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले के कर्णवास गाँव में सन् 1898 ई. को हुआ था। छायावादी कविता के उत्कर्ष काल में भट्टजी ने कविता के क्षेत्र में पदार्पण किया। उनका प्रारम्भिक रचनाओं में

छायावादी काव्य शिल्प और भाव का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। राका, मानसी . विसर्जन, युगदीप, अमृत और विष आदि कविता संग्रहों में इनकी वैयक्तिक अनुभति की सूक्ष्मता, प्रकृति के मानवीकरण की योजना, अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा और व्यंजना का सार्थक प्रयोग भट्टजी के काव्य की विशेषता है। भाव नाट्य के क्षेत्र में भी भट्टजी की रचना विश्वामित्र और दो भाव नाट्य उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। भट्टजी के परिवार की भाषा गुजराती थी। उनकी जन्मस्थली ब्रजमण्डल में होने के कारण इन पर ब्रजी का भी प्रभाव था। संस्कृत के अध्येता और अध्यापक होने के कारण उनकी रचनाओं में तत्सम पदावली का लावण्य और माधुर्य पाया जाता है। इनका निधन 1961 ई. में दिल्ली में हुआ।

रामधारी सिंह दिनकर(1908 से 1974)– रामधारी सिंह दिनकर का जन्म 1908 ई. में बिहार के सिमरिया गांव जिला में हुआ। बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद में इन्हें पारिवारिक परिस्थितियों के कारण सरकारी नौकरी करनी पड़ी। सीतामढ़ी में सब-रजिस्ट्रार के पद पर लम्बे अरसे तक कार्य किया। भारत के स्वतन्त्र होने पर बारह वर्ष तक संसद-सदस्य (राज्य सभा) रहे। एक वर्ष तक भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर कार्य करने के बाद भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार के रूप में छह वर्ष तक कार्य करते रहे। मूलत: दिनकर कवि थे किन्तु गद्य के क्षेत्र में भी इन्होंने इतिहास, निबन्ध, समीक्षा आदि पर पुस्तकें लिखीं। छायावादोत्तर कवियों में, जिन्हें हमने छायावादी समकालीन कवि कहा है, दिनकर का स्थान मूर्धन्य पर है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि मैं छायावाद की ठीक पीठ पर आये कवियों में हूँ। छायावाद की व्यंजनात्मक उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए उन्होंने भाव और विचार के क्षेत्र में अपनी नयी भूमिका प्रस्तुत की। राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधक गीत लिखकर जो ख्याति चौथे दशक में दिनकर को प्राप्त हुई वैसी किसी अन्य कवि को नहीं मिली। मेरे नगपति मेरे विशाल हिमालय को सम्बोधित उनकी प्रसिद्ध कविता है।' दिनकर के काव्य में जीवन और समाज का तात्कालिक परिवेश देखा जा सकता है। यह ठीक है कि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विषयों में गहरी रुचि होने के साथ ही वे छायावादी भंगिमा को छोड़ नहीं सके थे। उन्होंने बड़ी कुशलता से छायावादी काव्यधारा के अभिव्यंजना पक्ष को सरलीकृत रूप में प्रस्तुत कर, अपनी पृथक् पहचान बनायी राष्ट्रीय कविताओं के प्रति उनका प्रेम जिन परिस्थितियों में संवेदना के मार्मिक संस्पर्श से उद्वेलित हुआ था उसका एक विशेष कारण था।

प्रेम और मस्ती का काव्य

प्रस्तुत काल के काव्य में छायावादी रचनाएं इतनी प्रौढ़ और शक्तिशाली है कि प्राय: इस काल का विवेचन करते हुए आलोचकों का ध्यान केवल छायावादी काव्य धारा में ही केंद्रित होकर रह जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस काल के कवि जो पूरी तरह से छायावाद के अंतर्गत नहीं आ पाते, उपेक्षित से हो जाते हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि की प्रणयमूलक वैयक्तिक कविताओं का अध्ययन इसी सन्दर्भ में अपेक्षित हैं और यौवन की प्रखरता तथा आवेश को व्यक्त करने वाली इनकी अधिकांश काल में प्रकाशित हुई। तथापि इस दिशा में इनका आरम्भिक कृतित्त्व छायावाद युग में ही प्रकाश में आया। फलस्वरूप आलोच्य युग की इस काव्यधारा पर यहां संक्षेप में विचार कर लेना युक्तियुक्त होगा। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की रचना की है, किन्तु उनकी सम्बन्धी रचनाएं भी महत्वपूर्ण है। यह कहा जा सकता है कि प्रणय और यौवन कर छायावादी काव्य में बड़ी तल्लीनता के साथ किया गया है, इसलिए इन कविनों को स्वतन्त्र रूप से प्रेम और मस्ती की काव्यधारा के अन्तर्गत रखने का क्या आधार हैं? उत्तर स्पष्ट है, छायावादी कवियो में प्रणय का महत्त्व सीमित है। इस दृष्टि से प्रसाद का 'आंसू' काव्य छायावादी प्रणय-भावना के दोनों रूपों को मांसल वासनात्मक रूप को और उदात्त करुणा के रूप को व्यक्त करता है। 'कामायनी' में श्रद्धा, जो कामगोत्रजा है और प्रेम का संदेश सुनाने के लिए अवतरित हुई है, एक सीमा तक ही लौकिक प्राणी की आलंबन रहती है और अंत में उसी की रागात्मिका वृति का सम्बल पाकर मनु आनंद-आनंद लोक तक पहुंचते है। निराला के 'तुलसीदास' में भी प्रणय के इस सामान्य लौकिक रूप का निषेध कर राग बोध को एक उदास आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है।

7

उत्तर छायावादी हिन्दी साहित्य

उत्तर छायावादी काव्य की अनेक प्रवृत्तियाँ हैं क्योंकि इसे अनेक वादों एवं धाराओं को पार करना पड़ा है जिसके परिणामस्वरूप अनेक जीवन दृष्टियां तथा काव्य की वस्तु और शिल्प संबंधी धारणाएं दृष्टिगोचर हुईं। वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता हुई। रोमानी दृष्टिकोण का लेखन में विस्तारपूर्वक प्रयोग होने लगा। बुद्धिवादी यथार्थ दृष्टि का प्राधान्य हुआ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर छायावादी काव्य धारा में उत्तर छायावाद, वैयक्तिक गीति काव्य, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, नवगीति तथा समकालीन कविता आदि अनेक काव्य धाराओं का आविर्भाव हुआ जिसमें राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य एवं उत्तर छायावाद धाराएं नई नहीं हैं। छायावादी काव्यधारा छायावाद में अपना चरम विकास करने के पश्चात् परंपरा का निर्वाह करती हुई परवर्ती काल तक पहुँची। इन कृतियों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है–

राष्ट्रीय सांस्कृतिक- 'नहुष', 'अजित', 'जयभारत', 'कुणालगीत', 'हिमतरंगिनी', 'हिमकिरीटिनी', 'माता', 'समर्पण', 'युगचरण', 'अपलक', 'क्वासि', 'हम विषपायी जनम के', 'विनोबा स्तवन', 'नकुल', 'नोआखाली', 'जयहिंद', 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'गोपिका', 'हुंकार', 'द्वंद्व गीता', 'इतिहास के आंसू', 'कुरुक्षेत्र', 'दिल्ली', 'रश्मिरथी', 'धूप और धुंआ', 'कुणाल', 'वासव-दत्ता', 'भैरवी, चित्रा', 'युगाधार', 'सूत की माला', 'हल्दी घाटी', 'जौहर', 'विक्रमादित्य', 'मानसी', 'विसर्जन', 'अमृत और विष', 'यथार्थ और कल्पना', 'युगदीप', 'विजय पथ', 'एकला चलो रे', 'तप्त गृह', 'काल दहन', 'कैकेयी', 'दानवीर कर्ण' आदि।

इनमें 'गोपिका', 'क्वासि', 'अपलक एवं चित्रा' आदि में राष्ट्रीय स्वर गौण है तथा प्रेम का स्वर प्रधान है।

उत्तर छायावाद- 'तुलसीदास', 'अर्चना', 'अणिमा', 'आराधना', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'मधु ज्वाल', 'युग पथ', 'उत्तरा', 'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'अतिमा', 'कला और बूढ़ा चांद', 'लोकायतन', 'दीपशिखा', 'रूप अरूप', 'शिप्रा', 'अवन्तिका', 'गेघगीत आदि।

अणिमा में कुछ कविताएं राष्ट्रीय और सांस्कृतिक व्यक्तित्त्व वाले व्यक्तियों पर आधारित हैं। पंत की इस काल की सभी उत्तर छायावादी कृतियों में सांस्कृतिक स्वर सुनाई पड़ता है। भौतिकवाद एवं अध्यात्मकवाद के समन्वय से उत्पन एक बैचेनी भाव इनमें निरतंर दिखाई देता है।

इस तरह इन कृतियों का मूल स्वर छायावाद है, किन्तु विषय की दृष्टि से इन्हें अन्य धाराओं से भी जोड़ा जा सकता है।

वैयक्तिक गीति काव्य–निशा- 'निमंत्रण', 'आकुल अंतर', 'सतरंगिनी', 'मिलन', 'यामिनी', 'रसवंती', 'प्रभात फेरी', 'प्रवासी के गीत', 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल', 'कदली वन', 'मधुलिका', 'अपराजिता', 'लाल चूनर', 'किरण बेला', 'संचयिता', 'कलापी', 'जीवन और यौवन', 'पांचजन्य', 'रूपरश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल', 'मन्वंतर', 'दिवालोक', 'पंछी', 'पंचमी', 'रागिनी', 'नवीन', 'नींद के बादल', 'मंजीर तथा छवि के बंधन आदि। वैयक्तिक गीति काव्य की रोमानी धारा में आने वाली कृतियां छायावाद से अलग हैं। ये रचनाएँ नई प्रवृत्ति की सूचक हैं।

प्रगतिवादी धारा- 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'कुकुरमुत्ता', 'युग की गंगा', 'युगधारा', 'जीवन के गान', 'प्रलय सृजन', 'अजेय खंडहर', 'पिघलते पत्थर', 'मेधावी', 'मुक्ति मार्ग', 'जागते रहो आदि कृतियों के अतिरिक्त नरेंद्र शर्मा', 'अंचल', 'आरसी प्रसाद सिंह तथा शंभूनाथ सिंह की उपर्युक्त कृतियों की कई कविताएं इसी धारा के अंतर्गत आती हैं। प्रगतिवादी और वैयक्तिक धारा की कविताओं का शुभारम्भ सन् 1935 ई. के आस-पास हो गया था।

प्रयोगवादी धारा- तार सप्तक (प्रथम)', 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर', 'नाश और निर्माण', 'ठंडा लोहा', 'तार सप्तह (द्वितीय)।

प्रगतिवादी और वैयक्तिक कविता धारा की रचनाओं के साथ-साथ कुछ ऐसी भी सामने आई जिन्हें प्रयोगवादी कहा गया।

प्रयोगवादी कविताओं का श्री गणेश सन् 1943 ई. के आसपास हुआ। फिर भी दोनों धाराएं साथ-साथ चलती रहीं।

नई कविता- 'तारसप्तक' (द्वितीय) कुछ कविताएं', 'तार सप्तक (तृतीय)', 'बावरा अहेरी', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'इंद्रधनुष रौंदे हुए', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'आंगन के पार द्वार', 'शिलापंख चमकीले', 'धूप के धान', 'अनागता की आंखें', 'अर्द्ध शती', 'माध्यम मैं', 'कुछ और कविताएं', 'कुछ कविताएं', 'खंडित सेतु', 'गीत फ़रोश', 'बुनी हुई रस्सी', 'चकित है दुख', 'स्वप्न भंग', 'अनुक्षण कोपल', 'चांद का मुंह टेढ़ा', 'ओ अप्रस्तुत मन', 'वन पाखी सुनो', 'संशय की एक रात', 'सात गीत वर्ष', 'अंधा युग', 'कनुप्रिया', 'मृग और तृष्णा', 'मछलीकर', 'काठ की घंटियां', 'बांस के पुल', 'एक सूनी नाव', 'चक्रव्यूह', 'आत्मजयी', 'परिवेश हम तुम', 'सीढ़ियों पर धूप में', 'आत्म हत्या के विरुद्ध', 'वंशी और मादल', 'नाव के पांव', 'हिम विद्ध', 'माया दर्पण', 'इतिहास पुरुष', 'अकेले कंठ की पुकार', 'एक कंठ विषपायी', 'मुक्ति प्रसंग', 'अतुकांत', 'आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएं', 'अभी बिलकुल अभी', 'पक गईं धूप', 'उजली कसौटी', 'इतिहास का दर्द आदि तथा वे सभी कृतियां जिनकी चर्चा तार सप्तकों के बाहर के कवियों के संदर्भ में की गई है', 'नई कविता की कृतियां हैं। प्रतीक', 'नई कविता', 'निकष', 'संकेत', 'विविधा', 'आदि में संकलित कविताएं भी नई कविता के अंतर्गत आती हैं। कल्पना', 'कृति', 'लहर तथा ज्ञानोदय आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताएं भी नई कविता में आती हैं।

प्रयोगवाद ही आगे चलकर नई कविता में परिवर्तित हो गया है। इसलिए नई कविता में प्रयोगवाद के अनेक तत्त्वों का समावेश देखने को मिलता है फिर नई कविता का स्वतंत्र विकास हुआ है। बहुत से ऐसे कवि भी हैं जो दोनों धाराओं में कविता करते रहे हैं।

अत: उनकी कृतियों के संदर्भ में निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि उनका मिश्रित रूप है। यह कहना कठिन है कि कहां तक प्रयोगवादी है कहां से नई कविता के कवि कहे जाते हैं। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि सन् 1950 ई. के बाद की नए भावबोध की कविताओं को नई कविता की संज्ञा दी जा सकती है और प्रयोगवादियों की भी सन् 1950 ई. के बाद की कविताओं को नई कविता कहा है। फिर भी सन् 1952 ई. में प्रकाशित तारसप्तक (द्वितीय) की अधिकांश कविताएं अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के कारण प्रयोगवाद में ही समाविष्ट की जाती हैं। इसलिए नई कविता को प्रयोगवाद के क्रम में ही रखना

औचित्यपूर्ण है। यदि सन् 1950 ई. को विभाजक रेखा मान लिया जाये तो द्वितीय तार-सप्तक की कुछ कविताएं नई कविता के अंतर्गत आती हैं।

उत्तर छायावादी काव्य

उपर्युक्त काव्यों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के पश्चात् काव्य रूप में इस प्रकार मोड़ आया जो सर्वथा नवीन था उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गईं। उसके बाद समय-समय पर परिवर्तन आते रहे। किन्तु छायावाद के पश्चात् ऐसा निश्चित मोड़ नहीं आया जिसे नया नाम दिया जा सके।

भारतेंदु युग से चली आ रही राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा इस काल तक पहुँची। यही स्थिति वैयक्तिक गीतों की रही। छायावाद के बाद काव्य प्रणाली में परिवर्तन आया। यद्यपि छायावादी कुछ प्रवृत्तियां विद्यमान रहीं। इस दृष्टि से उत्तर छायावादी काव्य को उत्तर छायावाद, वैयक्तिक गीत काव्य तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता तीन उप वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-

उत्तर छायावाद

छायावाद का काल सन् 1918 से सन् 1939 ई. तक माना गया। छायावादी महान चतुष्टयी के मूर्धन्य महाकवि जयशंकर प्रसाद की मृत्यु सन् 1936 ई. में हो गईं। चतुष्टयी के मात्र तीन ही उत्तर छायावाद में अवशिष्ट हैं पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रा नंदन पंत तथा महादेवी वर्मा जिनकी काव्यकृतियों में छायावाद के बाद विशिष्ट परिवर्तन दुष्टिगत होता है।

पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

निराला के गीत नई संभावनाओं के वाहकर हैं। उनमें लोकोन्मुखता की शक्ति का विकास परिलक्षित होता है। यह लोकोन्मुखता निराला काव्य में प्रारंभ से दृष्टिगोचर होती है। निराला का जीवन संघर्षपूर्ण था। इसलिए स्वाभाविक रूप से वे प्रेम सौंदर्य के साथ-साथ जीवन के अन्य अनुभवों को भी अपने में समेटे हुए हैं। वे व्यक्तिगत प्रणय के गीत न गाकर लोक जीवन से संबंधित सुख-दुख, मानव यातना एवं जीवन संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति करने वाले गीतकार हैं। ऐसे समय में उनकी वैयक्तिक प्रणयानुभूति भी एकांतवासिनी न होकर लोक-गंधित हो उठती है। निराली की इस प्रवृत्ति को उत्तर छायावाद काल में विशेष रूप से विकसित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जिसके फलस्वरूप उनकी इस प्रवृत्ति ने दो रूप धारण किए-

छायावाद इतर प्रगतिवादी कविताएं लिखना छायावादी काव्यधारा के स्वर का अधिक लोकोन्मुखी होना। प्रगतिवादी कविताओं में छंद, भाषा एवं भाव सभी दृष्टियों से छायावादी प्रभाव से पूर्ण मुक्तता परिलक्षित होती है। ऐसी कविताओं में 'कुकुरमुत्ता', 'प्रेम संगीत', 'गर्म पकौड़ी', 'रानी कानी', 'मास्को डायलाग्स', 'नए पत्ते' तथा 'स्फटिक शिला' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं जिनमें प्रगतिशीलता दार्शनिक रूप में नहीं अपितु लोकानुभूतियों के रूप में है। इनकी भाषा जनभाषा है। मुहावरे सामाय जन भाषा की हैं। तथा शैली भी लोक हैं। लोक कथात्मक तथा संवादात्मक शैली प्रयुक्त है। निराला इस तथ्य से अवगत थे कि लोक जीवन को केवल उसके भाव, दृश्य एवं व्यापार से नहीं ग्रहण किया जा सकता बल्कि उसके लिए भाषा अपेक्षित है।

निराला ने छायावादी 'अणिमा', 'अर्चना' तथा 'आराधना' आदि कविताओं में एक से स्वानुभूतिपरक गीतों की रचना की है दूसरी ओर 'विजय लक्ष्मी पंडित', 'प्रेमानंद', 'संत रविदास', 'प्रसाद एवं बुद्ध' आदि व्यक्तियों को अपनी प्रशंसात्मक कविताओं का विषय बनाया है। ये गीत कई तरह के हैं–प्रेमसंवेदना प्रार्थना परकता, मानवीय संवेदना आदि की इनमें अभिव्यक्ति हुई है।

सन् 1938 ई. से पूर्व की कविताओं में भी निराला की ये विशेषताएं देखने को मिलती हैं। अनुपात भिन्नता अवश्य है। 'तुलसीदास' उत्तर छायावाद को निराला की विशिष्ट देन है। जिसमें भारत को सांस्कृतिक एवं सामाजिक पराजय के संकट से उबारने का दृढ़ संकल्प है। निराला की लोकवादी कविताएं इस युग की नवीन देन हैं यद्यपि उन्हें कविता की रूप में स्वीकारा नहीं किया गया है, किंतु भाषा एवं नवीन प्रयोग के रूप में उनका विशेष महत्व है। इन कविताओं में ठहराव से आगे बढ़ने की शक्ति है जो जनजीवन से समग्र रूप से जोड़ती हैं। निराला इस काल की कविताओं में जीवनानुभूति के स्वरों में टूटन एवं पराजय की प्रमुखता है। जो उन्हें भक्ति भावना की ओर अग्रसर करती है। साथ ही कवि का संतुलित मानस प्रेम, भक्ति, खुलेपन एवं उलझाव का ऐसा समन्वित रूप प्रस्तुत करता है कि ये कविताएं उस उलझाव से ग्रसित हो जाती हैं।

सुमित्रानंदन पंत

पंत इस कालावधि में स्वचिंतन एवं विषय में अधिक प्रगतिशील रहे। सन् 1936 ई. में 'युगांत' की घोषणा करके पंत ने सन् 1939 ई. में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना की। जहां वे मार्क्सवाद, भौतिक दर्शन तथा जन–जीवन की

सच्चाइयों की ओर मुड गए। निराला ने चिंतन के द्वारा नहीं अपितु संवेदना और अनुभव के द्वारा जन-जीवन को अपनाया। इसलिए उनके काव्य को मार्क्सवादी या समाजवादी दर्शन का स्पष्ट स्वरूप नहीं मिल सका। जनजीवन अपने समस्त संवेदन के साथ व्यक्त हुआ। पंत ने मार्क्सवादी दर्शन को चिंतन के स्वर पर ग्रहण किया। इसलिए वे मार्क्सवादी सिद्धान्त की अभिव्यक्ति करने में जुटे रहे। कवि ने मार्क्सवादी दृष्टि के प्रकाश में ग्रामीण जीवन की विविध छवियों का अति रमणीय चित्रांकन किया है। कुशल शिल्पी पंत को ग्रामीण बाह्य जीवन के यथार्थ ने जितना अपनी ओर आकर्षित किया है उतना आंतरिक चेतना ने नहीं।

'ग्राम्या' के बाद का कवि अरविंद के प्रभाव में आकर प्रगतिवाद के भौतिक भटकाव से मुक्त होकर आध्यात्मिक लोक की ओर अग्रसर हो जाता है। जिससे वैचारिक स्तर पर छायावाद को एक नई दिशा एवं समृद्ध आधार सुलभ हो जाता है। मार्क्सवाद से संतुष्ट न होकर उसकी आवश्यकता को स्वीकारता है। प्रारंभ से ही कवि मानस मात्र के सुख, प्रेम एवं शांति का प्रबल अकांक्षी रहा है। पंत इस तथ्य से अवगत थे कि एकांगी मार्क्सवाद मात्र भौतिक योग क्षेम की व्यवस्था करने में समर्थ है। इसे पर्याप्त न मानकर पंत अरविंद में भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद को समन्वित करने की अन्वेषणा करने में लग जाते हैं। समन्वय का यही स्वरूप उनकी परवर्ती रचनाओं 'स्वर किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'शिल्पी' तथा 'लोकायतन' में दृष्टिगोचर होता है। पंत की काव्य विकासीय यात्रा में काव्य पक्ष गौण रहा है, धारणा पक्ष उठता गया है जिसके परिणामस्वरूप वे मानव समाज की समस्याओं, उनके समाधानों तथा नवीन विचारों को धारणा एवं इच्छा के स्तर पर स्वीकारते हैं, अनुभूति के स्तर पर नहीं। मार्क्सवाद एवं अरविंद दर्शन दोनों ही पंत काव्य को समृद्ध बनाने में सहायक एवं सफल नहीं हो पाए हैं।

महादेवी वर्मा

'दीपशिखा' महादेवी वर्मा का उत्कृष्ट काव्य है। प्रेम उनका प्रमुख विषय है। संयोग-वियोग के उभार में प्रेम को विभिन्न दृष्टिकोणों से उन्होंने अपने अनुभव के प्रकाश में झांका है। वेदना उनकी मूल संवेदना है जो विरह की जन्य संवेदना है। करुण वेदना एवं निराशा से आक्रांत इनका प्रारंभिक काव्य 'दीपशिखा' कुछ आलोक प्राप्त करने में सफल हुआ है। आशा, उल्लास एवं मिलन भाव देखने को मिलता है।

सब बुझे दीपक जला लूं।
फिर रहा तम आज दीपक रागिनी अपनी जगा लूं।
हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चंदन।
अगरु धूम सी सांस सुधि गंध सुरभित।

महादेवी में गीति काव्य के उत्कर्ष की अति संभावना प्रकट है। लेकिन यह रहस्यात्मकता का आवरण उनके प्रभाव की तीव्रता को कुंठित करने में सफल हो जाता है। संवदेनाएं सीमित हैं जो विभिन्न प्रतीकों एवं रूपकों के आधार पर अभिव्यक्ति ग्रहण करती हैं। प्रतीक एवं रूपक भी अति सीमित एवं अभिजात हैं। लौकिक संवेदनाएं रहस्यवादी आभास से संपृक्त होकर नए अर्थ का विस्तार करती हैं, किन्तु उनकी लौकिक मूर्तता, प्रत्यक्षता तथा तीव्रता लुप्त हो जाती है। महादेवी के प्रमुख प्रतीक चंदन, दीप, मेघ, क्षितिज, मंदिर, करुण, आकाश, धूलि, सागर, विद्युत हैं जिन्हें पुनः-पुनः भावाभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त किया जाता है। परिणाम यह होता है कि रहस्यात्मक संकेत उन्हें उलझा लेते हैं।

वैयक्तिक एवं छायावादी सीमाओं के होते हुए भी महादेवी छायावाद की विशिष्ट ही नहीं, अतिविशिष्ट कवयित्री हैं तथा 'दीपशिखा' उनकी विशिष्ट कृति है। रहस्य एवं संकोच के आवरण के होते हुए भी कवयित्री की अंतरंग निजता उनके गीतों में प्रवाहमान रहती है। कहीं-कहीं उनकी पारदर्शिता समग्र दृश्यों को समेटकर उसी की ओर संकेत करते हैं वहां उनके गीतों की रचना अति उत्कृष्टता को प्राप्त करती है। महादेवी के गीतों में सूक्ष्म चित्रात्मकता सब जगह विद्यमान है। उनके चित्र रूप जगत तथा भावजगत दोनों के हैं। रूप जगत के चित्रों की संयोजना कवयित्री के मानसिक संदर्भ में हुई है। लोक परिवेश और लोक भाषा से दूर, सीमित आत्मानुभूति की परिधि में विचरण करने वाले, भाषा की अभिजात छवि से मंडित ये गीत शब्द चयन, पद संतुलन, बिंब ग्रहण, प्रांजलता, कोमलता और स्वर लय में अपनी अति विशिष्टता को प्रस्तुत करते हैं।

वैयक्तिक गीति काव्य

कवि दृष्टि एवं विषय के दृष्टिकोण से छायावाद एवं वैयक्तिक गीति काव्य में अत्यधिक समानता है। कवि दृष्टिकोण रोमानी है वस्तु जगत के प्रति इनकी प्रतिक्रिया अत्यंत भावुक है। इनका संबंध वस्तु जगत से नहीं अपितु वस्तु जगत की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न स्व सुख-दुखात्मक आवेग से था। इनकी कविताओं में भयंकर आत्म संपृक्ति एवं उत्तेजना पाई जाती है। इनका काव्य विषय

मूलत: सौंदर्य एवं प्रेम तथा उसके कारण उत्पन्न उल्लास एवं विषाद की अनुभूति थी। गीति को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। क्योंकि इनके काव्य विषय की प्रकृति छायावादी काव्य की प्रकृति के समान गीतात्मक है। इनकी कृतियों में संकोच, रहस्यमत्यता तथा आदर्शवादिता को स्थान नहीं मिला है। बड़े उत्साह के साथ स्पष्ट तौर पर ये अपने वैयक्तिक प्रेम संवेग एवं सुख-दुख को व्यक्त करने के लिए छटपटाते रहते हैं। इनकी वेदना सामान्य न होकर वैयक्तिक है जो अनुभव का बिंब उकेरने में पूर्ण सफल हैं। 'मैं' द्वारा वैयक्तिक गीत स्व अनुभव प्रकट करते हैं। वैयक्तिक गीत काव्य का 'मैं' बिना किसी संकोच, मर्यादा, भय या आतंक डर के निर्व्याज भाव से राग विराग के साथ स्वत: प्रस्तुत होने लगता है।

लौकिक प्रेम इनकी केन्द्रीय वृत्ति है। प्रेम के संयोग-वियोग जन्य उल्लास, पीड़ा, उदासी, टूटन एवं असंतोष आदि का सघन स्वर इनकी कविताओं में मुखरित हो उठता है। परिवेश, अनुभव एवं संस्कारानुसार कवि स्वरों में वैविध्य देखा जाता है, किंतु मूल वृत्ति में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता है। प्रेम लौकिक सौंदर्यालंबन पर आधारित होने के फलस्वरूप अधिक मूर्तता ग्रहण करता है। इनका हर्ष-विषाद, आदर्श का छलिया नहीं है जो धरती और आकाश के मध्य झुकना नहीं जानता है। पृथ्वी के विशुद्ध धरातल पर यात्रा करने वाला भू परिवेश के मध्य एवं स्व-स्वरूपानुसार अत्यधिक स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष होता है। हरिवंश राय बच्चन के 'निशा निमंत्रण' एवं 'एकांत संगीत' काव्य यदि प्रेम के विषाद की गहनता को व्यक्त करते हैं तो मिलन-यामिनी, मिलन की मादकता तथा उमंग को। नरेंद्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' में यदि लौकिक विरह-व्यथा की प्रमुखता है तो अन्य कृतियों में प्रेयसी के सौंदर्य, भोग और संयोग की ऊष्मा के मादक चित्र भी विद्यमान हैं। यही स्थिति इस धारा के अन्य कवियों अंचल, नवीन एवं दिनकर आदि की कविताओं में प्रकट होती है।

वैयक्तिक गीति काव्य धारा का मूल स्वर प्रेम है। प्रेम जन्य व्यथा एवं उदासी हर कहीं व्याप्त है। इनकी स्वच्छंद वृत्ति सौंदर्य और प्रेम की पिपासा लिए उड़ान भरती है, उसकी तृप्ति कहीं नहीं हो पाती थी जिससे उड़ान की तीव्रता में इनका सामाजिक प्रतिबंधों से संघर्ष होता था। परिणामस्वरूप प्रेम भावनाओं को ठेस पहुंचायी है जिसमें टूटन विरह व्यथा का रूप धारण कर लेती थी जिससे कवि को यह अनुभूति होती थी कि विश्व को उसके ये गीत वासना के गान प्रतीत हो रहे हैं। अनुभव के इन सत्यों को उसका स्वच्छंद हृदय अनियंत्रित,

निर्लिप्त भाव से गाकर प्रकट करने की चाह रखता था। हरिवंश राय बच्चन ने अपने और सामाजिक तनाव को स्पष्ट अनुभव करते हुए 'मधुकलश' में लिखा है–

"कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।"
"वृद्ध को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी।"
"शत्रु मेरा बन गया है छल रहित व्यवहार मेरा।"

निराशा एवं उदासी के स्वर की मुखरता मात्र प्रेम मूलक नहीं है अपितु जीवन के अन्य संदर्भों को भी उसकी मुखरता का अवलोक पुकारा जा सकता है। देश की परतंत्रता, सामाजिक कुरीतियों जैसे–अंध विश्वासों, धार्मिक बाह्याडंबरों, आर्थिक विषमता आदि के अनुभव की भयंकरता से गुजरता हुआ अकेला, स्वच्छंद, संवेदनशील युवा मानव बार-बार अपनी टूटन का अनुभव कर रहा है।

उसका वैयक्तिक आक्रोश का स्वर संपूर्ण कुरूपताओं को अस्वीकारता हुआ, स्वयं को कहीं स्वीकृत न पाता हुआ 'स्व' में ही प्रत्यावर्तित हो जाता था। अपने को आत्मपीड़न, कुंठा, संत्रास, टूटन, घुटन की एक नये आवरण से आच्छादित कर उन्हीं अनुभूतियों को गाता चलता था। इनके पास जीवन दृष्टि का अभाव था न तो पुरानी आध्यात्मिक जीवन दृष्टि थी और न ही नवीन समाजवादी दृष्टि। इनके अनुभव ही इनका परिचालन कर रहे थे। इनके अनुभव भावुक हृदय के अनुभव थे। उनका दृष्टिकोण रोमानी था अतः वे व्यक्ति को न तो सामाजिक शक्ति से जोड़ पाए न आध्यात्मिक आदर्शों से। जीवन दृष्टि के अभाव में ये व्यक्तिवादी अनुभव निराशा, मृत्यु की छाया और नियति बोध से ग्रसित हैं। इनकी जीवन दृष्टि जहां अपनी तीव्रता में सूक्ष्म, किंतु खुले हुए बिंबों की रचना में एक नवीन साहित्यिक सौंदर्य की सृष्टि करता है। वहां अपने अत्यधिक अकेलेपन, उदासी और अपने दोहराव में क्षय की ओर उन्मुख दृष्टिगोचर होने लगता है। जहां यह काव्यात्मक दृष्टि से सपाट हो जाता है वहां अपनी सार्थकता किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं कर पाता है।

"कितना अकेला आज मैं
संघर्ष में टूटा हुआ
दुर्भाग्य से लूटा हुआ
परिवार से छूटा हुआ, किंतु अकेला आज मैं।"

कांत संगीत

वह अकेला अपने चारों ओर मात्र अवसाद महसूस करता है। अवसाद खुला हुआ लौकिक अवसाद है। कवि का साथ ईश्वर ने भी छोड़ दिया है। समाज की रूढ़िवादिता भी नहीं है। कोई संस्था नहीं है। उसे किसी का सहारा अर्थात् तिनके का भी सहारा प्राप्त नहीं है। सहारा मात्र प्रेयसी के मिलन की आशा है जो दूर कहीं तारे की भांति सी टिमटिमा रही है, किन्तु मृग मरीचिका में प्रेयसी से मिलन भी नहीं हो पाता है। ऐसी अवस्था में कवि अपनी नंगी पीड़ा, असफलता, निराशा को प्रत्यक्ष बेलौस झेलता हुआ जीवन को असफल एवं निराधार महसूस करने लगता है।

इस प्रकार की वैयक्तिक, निराशापूर्ण, निराधार अनुभव-यात्रा के दो परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं–

1. यह निश्चित विश्वास है कि जीवन क्षणभंगुर है। इस अवसाद-विषय के विस्तार में यदि उल्लास के कुछ क्षण मिल जाते हैं तो उन्हें खुशी से जीओ। भोग के समय सोच-विचार ना करो।
2. कवि विश्वास करता है कि मद्यपान दुखों से छुटकारा दिलाता है इसलिए अपने दुखों को भुलाने के लिए मधु का सहारा लेता है। क्योंकि अन्य सहारों का उसे सहारा नहीं है। इतना ही नहीं वह अपनी मादकता, प्रेम या उल्लास की उत्तेजना को तीव्र करने हेतु मधुशाला के मार्ग की ओर अग्रसर होता है क्योंकि मधुपान करना चाहता है। यह मधु धीरे-धीरे इतना आत्मीय हो जाता है कि वह अन्य जीवन सत्यों का प्रतीक बन जाता है। 'मधुशाला' एवं 'मधुबाला' में ऐसा ही हुआ है। वैयक्तिक गीति काव्य में कहीं-कहीं प्रगतिवादी कविता जैसा विद्रोह स्वर प्रकट हुआ है जैसे बच्चन के 'बंगाल का काल' नरेन्द्र शर्मा के 'अग्निशस्य' अंचल की 'किरण बेला' तथा शंभुनाथ सिंह के 'मन्वंतर' आदि में। समाज में सर्वव्याप्त असंतोष तथा वैयक्तिक अस्वीकृति की प्रबल भावना के कारण कवियों में विद्रोही भावना दृष्टिगोचर होती है। विद्रोह के ये दो प्रमुख कारण हैं, किन्तु इस धारा में व्याप्त समस्त विद्रोह स्वर मूलरूप से समान है। उसमें वैयक्तिक भावावेश का आधिक्य दिखता है। सामाजिक दर्शन तथा रचनात्मक चिंतन अपेक्षाकृत न्यून है। अभिव्यक्ति की सादगी वैयक्तिक गीति काव्य की प्रमुख विशेषता एवं देन है। कवि बहुत ह सरल शब्दों का प्रयोग करके

अपने गहनातिगहन भावों की अभिव्यक्ति अति सहजता एवं सरलता से करता है। सर्व परिचित चित्रों, तथा सरल, लघु, सारगर्भित कथन भंगिमा से अपने कथ्य को सहृदय तक प्रेषित कर देता है। इसलिए कवि की शक्तियां-अशक्तियां दोनों अति स्पष्टता से उभर कर सामने दृश्यमान होती हैं। शक्तियों की यह विशेषता है कि वे अस्पष्ट बिंबों में अपने को उलझाकर अपनी तीव्रता एवं प्रभाव नष्ट नहीं करती हैं तथा अशक्तियां रहस्यात्मकता का लाभ उठाकर अपनी महानता को प्रस्तुत नहीं कर पातीं। गीति काव्य के कवियों की संवेदना भक्तिवादी है। किन्तु वे अपने को जिस माध्यम, परिवेश, प्रकृति चित्र, बिम्ब, उपमा, भाषा आदि के द्वारा व्यक्त करने के इच्छुक हैं वह अति परिचित होता है, लोक का निकटस्थ होता है इसलिए मांसल एवं मूर्त की प्रतीति करवाता है।

काव्य भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी शब्द चयन, पद विन्यास हमें अपना सा महसूस होता है। बोलचाल के शब्दों और मुहावरों का पर्याप्त प्रयोग भाषा को जीवंत रूप प्रदान करता है। वैयक्तिक गीति काव्य धारा के कवियों में हरिवंशराय बच्चन, नरेंद्र शर्मा तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नाम विशेष हैं–

हरिवंशराय बच्चन

वैयक्तिक गीति काव्य धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हरिवंश राय बच्चन हैं। धारा की समस्त संभावनाएं एवं सीमाएं बच्चन में समाहित हैं। बच्चन मूलतः आत्मानुभूति के कवि हैं। आत्मानुभूति की सघनता वाली कृतियां तीव्र प्रभावोत्पादक एवं मर्मस्पर्शी हैं।

आत्मानुभूति के साथ अवधारणा का समावेश होने के परिणामस्वरूप प्रभावान्विति टूट-टूट गयी है। 'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' तथा 'मिलन यामिनी' के गीत इस दृष्टिकोण से यदि गीत काव्य की उपलब्धियां हैं तो अवधारणाएं अनुभूतियों के रंग में सराबोर हैं। बच्चन ने स्वानुभूति जन्य सौंदर्य, सुख-दुख तथा प्रेम विषयक गीत अति उन्मुक्तता तथा सहजता से प्रस्तुत किए हैं।

यहीं तक अपने को सीमित न करके सामाजिक विकृतियों के चित्रण तक पहुंचाया है। उनके प्रति विद्रोही भावना भी परिलक्षित होती है। बच्चन के गीतों ने अपनी सहज भाषा और अनुभूति की निश्छलता के फलस्वरूप गीति काव्य को नई गरिमा प्रदान की है। लेकिन जब उनमें उत्तेजना आ जाती है, भाषा सीधी-सपाट हो

जाती है, शब्द बिंबों का अपव्यय होता है और वे अप्रभावी दिखते हैं। बच्चन के काव्य सौंदर्य के धरातल, ऊंचाई-निचाई एवं सपाटता की अत्यधिक विषमता दृष्टिगोचर होती है। बच्चन ने निर्भय भाव से अपने परिचित विश्व का परित्याग कर यथार्थवादी नवीन विश्व में पदार्पण किया है तथा उसके अनुसार भाषा की खोज की है।

नरेंद्र शर्मा

नरेंद्र शर्मा के गीत अपनी विशिष्टता के फलस्वरूप दूसरों से भिन्न हैं। उनमें आत्मीयता एवं चित्रात्मकता की प्रधानता है। सुख-दुख का निवेदन बिना किसी माध्यम के सीधे प्रेमपात्र को किया गया है। माध्यम के अतिरिक्त किसी अवधारणा या छल कपट अथवा बांकपने को भी अवसर नहीं मिला है। गीतों के परिवेश में कवि एवं सहृदय दोनों के परिवेश का समन्वय दिखता है। जो कवि के अनुभवों को जीवंत बनाता है। ऐसा प्रतीत होता है नरेंद्र शर्मा के गीत अपने हैं। इनमें प्राकृतिक परिवेश भी होता है। नरेंद्र के गीति काव्यों का विषय मानवीय सौंदर्य, प्राकृतिक सौंदर्य तथा तज्जन्य विरह मिलन की अनुभूतियां हैं। इन्होंने सामाजिक यथार्थ का सफल चित्रण प्रस्तुत किया है। सामाजिक विसंगतियां इनके लिए असहनीय हैं इसलिए उनके प्रति इनकी विद्रोही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। नरेन्द्र की दृष्टि रोमानी है जिसमें सामाजिकता का समावेश है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

व्यक्तित्त्व- रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का जन्म सन् 1915 ई. में किशनपुर में हुआ था एम.ए. की शिक्षा प्राप्त करके जबलपुर के इंस्टीट्यूट ऑफ लैंग्वेजेज़ ऐंड रिसर्च के हिंदी विभागाध्यक्ष रहे। तथा बाद में राजकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय, रायगढ़ के आचार्य हो गए।

साहित्यिक विशेषताएं–'अंचल' तीव्र रोमानी दृष्टि के कवि हैं। उनकी यायावर प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनके सामाजिक यथार्थ वाले काव्यों में रोमानी संवेदना प्रमुख रूप से परिलक्षित होती है। रूपासक्ति, वासना, पीड़ा एवं जिजीविषा में इनका उद्दाम रूप ही दिखलाई पड़ता है जिसने इनके काव्य का सृजन किया है। वासना की प्रबलता इनके काव्य को सामाजिक संयम से पृथक कर देती है। रचनात्मक स्तर पर उनमें गहनता तथा संश्लिष्टता का अभाव हो जाता है उसका स्थान उत्तेजना ग्रहण कर लेती है। 'अंचल' के व्यक्तित्त्व पर स्नायविक

तनाव इतना अधिक है कि वे लगातार येनकेन प्रकारेण काव्य में शृंगारिक प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति करते रहते हैं इसके अभाव में उन्हें अपनी रचनात्मक संतुष्टि नहीं मिलती है।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा

परिवेशानुसार 'राष्ट्रीय' शब्द का अर्थ-परिवर्तन होता रहता है। राष्ट्रीय शब्द में आधुनिकता के समावेश से जाति, धर्म, संप्रदाय, निश्चित भू-भाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर आधुनिक काल में समग्र देश, देश में निवासित सभी जातियां, विभिन्न भूखंडों, संप्रदायों एवं रीति-रिवाजों के लोगों का संश्लिष्ट, सामूहिक रूप उभर कर सामने प्रकट हुआ है क्योंकि भूमि, भूमिवासी जन और उनकी संस्कृति को राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है। राष्ट्र में संस्कृति समावेशी होती है। संपूर्ण भारतवर्ष की अखंडता एवं एकता के रूप में राष्ट्रीयता का अर्थ विकसित हुआ। अंग्रेजों के आने से पहले भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। उस समय राष्ट्रीयता में अखंडता के स्थान पर हिंदूत्व आदि को प्रधानता दी जाती थी रीति कालीन भूषण की राष्ट्रीयता ऐसी ही थी। आजादी से पूर्व सभी धर्म एवं जाति के लोग एकसाथ हो अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त होने के लिए स्वतन्त्रता संग्राम में एकजुट होकर राष्ट्रीयता प्रकट की। स्वधीनता आंदोलन और उसका देशव्यापी प्रसार राष्ट्रीय क्रिया कलाप में समाहित हो गया। पाश्चात्य राष्ट्रीयता भारतीय राष्ट्रीयता से भिन्न है क्योंकि वहां परतंत्रता नहीं थी। भारतीय राष्ट्रीयता में स्वरक्षा एवं स्वविकास दोनों हैं जबकि पश्चिम में स्वविकास ही प्रमुख है। भारत में संस्कृति, भाषा की भिन्नता होते हुए भी राष्ट्रीय एकता मुख्य है। प्राचीन संस्कृति एवं प्राचीन आध्यात्मिकता राष्ट्रीय एकता का वह मूल स्रोत है जो सबको सूत्रबद्ध करता है। इस कालावधि की राष्ट्रीयता में पराधीनता की देश का अनुभव तथा उससे मुक्ति पाने हेतु किये गए प्रयत्न। पश्चिमी सभ्यता और अलगाव की भावना से आक्रांत होती हुई भारतीय चेतना का उद्धार करने हेतु उसमें एकता एवं स्वाभिमान का स्वर मुखर करने के लिए अपनी प्राचीन संस्कृति के समुज्ज्वल रूप का प्रस्तुतिकरण तथा उपयोगी आधुनिक मूल्यों के संदर्भ में राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिकता का पुनर्विचार तथा पुनर्गठन। स्वतंत्रता के पश्चात् प्रथम दो उद्देश्य पूरे हो गए हैं।

मात्र तीसरे तत्त्व की सार्थकता शेष है। नवीन विशेषताएं देश का विकास, राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा एवं नवीन राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिवेशों के कारण उत्पन्न समस्याएं तथा उनके समाधान खोजने के प्रयत्न। आधुनिक राष्ट्रीयता का प्रारंभ भारतेंदु युग से हुआ। वर्तमान राष्ट्रीयता मानवीय एवं सार्वभौम प्रश्नों तथा संवेदनाओं से संपृक्त होती चली जा रही है। इस काल में राष्ट्रीयता कहीं खंडित रूप में कहीं संश्लिष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस काल में राष्ट्रीयता का मूल रूप विदेशी शासन के अत्याचारों, उनके कारण उत्पन्न अनेक जन-यातनाएं तथा जनता के मन में उठती हुई क्रोध तथा असंतोष की ललकारों का चित्रण है। दिनकर, सोहन लाल द्विवेदी, नवीन, माखन लाल चतुर्वेदी आदि की कृतियों में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

सन् 1938 ई. के आसपास राष्ट्रीय जीवन की यातना और आक्रोश के स्वर में एक नया स्वरूप परिलक्षित होता है। परिवेश जन्य कारणों से राष्ट्रीय साहित्य का स्वर उग्रतर यथार्थोन्मुख तथा लोकोन्मुख होता चला गया। प्रगतिवाद से पूर्व भी शोषक-शोषित की समस्या उठ खड़ी हुई थी। राष्ट्रीयता दिनकर काव्य में उभर कर प्रत्यक्ष हुई।

संस्कृति का संबंध इसी आत्मा अथवा चेतना से होता है। संस्कृति इतिहास के रूप में मानव के लिए पृष्ठभूमि एवं प्रेरणा बनती है तथा वर्तमान चेतना से स्पंदित होकर मानव जीवन का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। प्रतिभा संपन्न कवियों ने संस्कृति के उदात्त अतीत रूप को वर्तमान जीवन के परिप्रेक्ष्य में पुनर्परीक्षित करके ही स्वीकारा है। यह प्रयास छायावादी कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।

इस कालावधि में प्रकाशित 'कुरुक्षेत्र', 'जय भारत', 'नकुल', 'उन्मुक्त', 'रश्मिरथी' तथा 'विक्रमादित्य' आदि काव्यों में भी राष्ट्रीय- सांस्कृतिक भावना का चित्रण किया गया है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त 'इतिहास के आंसू' की फुटकल कविताओं में भी इस संदर्भ का अवलोकन किया जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त इस धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। गुप्त ने तत्कालीन राष्ट्र चेतना को अपने काव्यों में मुखर रूप में रचा है। जिसमें वैविध्य की स्थिति देखी जा सकती है। आधुनिक काल के राष्ट्रीय इकलौते कवि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त हैं।

माखन लाल चतुर्वेदी

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताएं माखन लाल ने लिखीं। इनका संबंध तत्कालीन राष्ट्रीय व्यवस्था से है। इनमें पराधीन राष्ट्र की व्यथा, अंग्रेजों के अत्याचारों आदि का चित्रण किया है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

नवीन सौंदर्य एवं प्रेम लिखने के कारण छायावादी कवियों का सान्निध्य प्राप्त कर लेते हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावना को प्रस्तुत किया जिसमें राष्ट्रीयता प्रमुख है। संस्कृति के प्रति विशेष रुचि नहीं थी।

रामधारी सिंह दिनकर

व्यक्तित्त्व– रामधारी सिंह दिनकर का जन्म 30 सितम्बर, सन् 1908 सिमरिया जिला मुंगेर में हुआ था। बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त कर हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक बन गए। बिहार सरकार के अधीन सब रजिस्ट्रार, बिहार सरकार के प्रचार विभाग के उपनिदेशक, मुजफ्फरपुर कॉलेज में हिंदी विभागाध्यक्ष तथा भारत सरकार के सलाहकार रह चुके हैं। ये संसद के ऊपरी सदन राज्य सभा सदस्य भी रहे हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–इस काल में सबसे अधिक सशक्त कवि रामधारी सिंह दिनकर थे। संवेदना एवं विचार का अति सुंदर समन्वय इनमें परिलक्षित होता है। प्रेम सौन्दर्य मूलक एवं राष्ट्रीय कविताएं कवि की संवेदना से स्पंदित है। परिवेश संपृक्त करने की इनमें प्रबल आकांक्षा थी। लोकोन्मुखता, सहजता इनकी विशेषता है। इनकी कविता में वैयक्तिक कुंठा, अवसाद तथा निराशा की जगह प्रसन्नता तथा सर्वत्र सौंदर्य के प्रति स्वस्थ मानवीय प्रतिक्रिया ने लिया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता देश एवं युग सत्य के प्रति जागरुकता है। जिसे ग्रहण करने में अनुभूति और चिंतन दोनों स्तरों पर पूर्ण सफलता मिली है।

कवि ने राष्ट्र को उसकी सामयिक घटनाओं, संघर्षों, विषमताओं तथा समताओं आदि के रूप में नहीं, उसकी संश्लिष्ट सांस्कृतिक परंपराओं के रूप में पहचाना है और उसके प्राचीन मूल्यों का नए जीवन संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन कर एक ओर उन्हें जीवंतता प्रदान की है, दूसरी ओर वर्तमान की समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्व बताते हुए उन्हें अपने प्राचीन किंतु जीवंत

मूल्यों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म के माध्यम से बुद्धि से वस्तु स्थिति की तीखी पहचान और हृदय में सार्वभौम सुख-साम्राज्य की स्थापना की सुंदर कामना का अद्‌भूत समन्वय किया है-

कर पाता यदि मुक्त हृदय को
मस्तक के शासन से
उतर पकड़ता बांह दलित की
मंत्री के आसन से
स्यात् सुयोधन भीत उठाता
पग कुछ और संभल के
भरत भूमि पड़ती न स्यात्
संगर में आगे चल के।
-कुरुक्षेत्र।

सियाराम शरण गुप्त

सियाराम शरण गुप्त इस धारा के विशिष्ट कवि हैं। इनकी कृतियों में गांधीवाद की अभिव्यक्ति भरपूर हैं। देश की ज्वलंत घटनाओं एवं समस्याओं का चित्रण बड़ी सफलता से इनके काव्य में हुआ है। घटनाओं, अवस्थाओं तथा समस्याओं को तत्कालीन न मानकर उनको मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं से संदर्भित कर देते हैं। आधुनिक या अतीत की पृष्ठभूमि को आधुनिक मानवता की करुणा, यातना, द्वंद्व से समन्वित करके चित्रित किया है। किसी भी भारतीय घटना का उदात्तीकरण कर उसे वृहत्तर मानवीय मूल्यों का स्तर प्रदान किया है। राष्ट्रीयता के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीयता को प्रतिस्थापित किया है। 'उन्मुक्त' आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों का द्योतन करने वाली प्रमुख कृति है। जिसमें कवि ने अपने तरीके से युद्ध की अनिवार्यता, बलिदान, त्याग, यातना, विभीषिका तथा मानवीय करुणा का अद्‌भुत सामंजस्य प्रस्तुत किया है।

8

प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य

मार्क्सवादी विचारधारा का साहित्य में प्रगतिवाद के रूप में उदय हुआ। यह समाज को शोषक और शोषित के रूप में देखता है। प्रगतिवादी शोषक वर्ग के खिलाफ शोषित वर्ग में चेतना लाने तथा उसे संगठित कर शोषण मुक्त समाज की स्थापना की कोशिशों का समर्थन करता है। यह पूँजीवाद, सामंतवाद, धार्मिक संस्थाओं को शोषक के रूप में चिन्हित कर उन्हें उखाड़ फेंकने की बात करता है।

हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद का आरंभ 1936 से 1943 तक माना जा सकता है। इसी वर्ष लखनउ में प्रगतिशील लेखक संघ का पहला सम्मेलन हुआ जिसकी अध्यक्षता प्रेमचंद ने की। इसके बाद साहित्य की विभिन्न विधाओं में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित रचनाएँ हुईं। प्रगतिवादी धारा के साहित्यकारों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन, त्रिलोचन, रांघेय राघव।

छायावाद का व्यष्टिगत दृष्टिकोण उसके ह्रास एवं पतन का प्रधान कारण बना क्योंकि महादेवी वर्मा के शब्दों में वह "व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा था"। इसके साथ पंत के शब्दों में-"छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्य के निर्जन अदृश्य चरम पर विराम करने वाली कल्पना" को जन जीवन का परम मित्र अंकित करने के लिए "एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती" की आवश्यकता थी। प्रगतिवाद उपर्युक्त व्यष्टिगत भावना की उपेक्षा कर समष्टिगत स्वरूप को लेकर आगे बढ़ा और उसने "अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली" कल्पना को "एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती" पर उतार कर उसे जन-जीवन का चित्रण

करने के लिए मार्गदर्शित किया। जिस समय छायावाद अपने व्यष्टि की साधना में तन्मय, जगत की यथार्थता की ओर से आंखें बंद करके आत्म विभोर होकर आगे बढ़ा जा रहा था उसी समय जगत की नग्न वास्तविकता, "रोटी का राग" और "क्रांति की आग" लिए प्रगतिवाद आगे आया तथा उसने झकझोर कर साहित्यकार को एक नवीन समस्या, एक नवीन चेतना का प्रकाश बिखेरा। उसने छायावाद की अति सूक्ष्म काल्पनिक भावनाओं का विरोध कर उसे स्थूल जगत की कठोर वास्तविकता के समक्ष खड़ा कर दिया।

कुछ लोगों की मान्यता है कि प्रगतिवाद विचारधारा की देन है। इसका प्रारंभ सन् 1936 ई. में लखनऊ में होने वाली 'प्रगतिशील लेखक संघ' की पहली बैठक से हुआ। सन् 1936 ई. में सज्जाद जहीर और डॉ. मुल्क राज आनंद के प्रयत्नों से भारत वर्ष में भी इस संस्था की शाखा स्थापित की गईं। लखनऊ का अधिवेशन प्रेम चन्द की अध्यक्षता में हुआ था। इससे एक वर्ष पूर्व ही सन् 1935 ई. में पेरिस में ई.एम. फार्स्टर के सभापतित्त्व में "प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन" नामक अंतर्राष्ट्रीय संस्था का अधिवेशन आयोजित हुआ था। इस वर्ष तक साम्यवादी या समाजवादी आंदोलन का श्रीगणेश हुआ। इससे एक वर्ष पूर्व सन् 1935 ई. में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का उद्‌भव हुआ। गांधी जी के नेतृत्व में स्वाधीनता आंदोलन चल रहा था। युवा हृदय अपनी विद्रोही भावना की अभिव्यक्ति हेतु साधन की खोज में था। गांधीवादी विचारधारा में अहिंसावादी सिद्धांतों से असंतुष्टों का विकास हो रहा था। अधिक उग्र वैचारिकता वालों का उग्र आचरण में विश्वास था।

अहिंसावादी गांधी ने हिंसा के डर से अनेक बार जन आंदोलन को रोक दिया था। उमड़ता हुआ जन-जीवन सहज रूप से इसे स्वीकार नहीं कर पाता था। मजदूरों का आंदोलन भी बढ़ता जा रहा था। धीरे-धीरे राजनीति में वामपंथी शक्तियों का जोर बढ़ने लगा। समसामयिक परिवेश, वैचारिक उग्रता तथा समाजोन्मुखता को बल दे रहा था। राजनीतिक गुलामी में एक ओर पूंजीवाद और सामंतवाद की शोषण प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल रहा था और दूसरी ओर जन-सामान्य के लिए भयावह गरीबी, अशिक्षा, असुविधा और अपमान अपना प्रबल रूप धारण करता जा रहा था। इसके अतिरिक्त अकाल एवं युद्ध की भीषण विभीषिकाएं राष्ट्र को निगलती चली जा रही थीं। द्वितीय महायुद्ध और बंगाल का अकाल देश का बेड़ा गर्क करने वाली भयानक घटनाएं थीं। युद्ध के दबाव में आमजनता अत्यधिक आक्रांत हो रही थी। जगती हुई उग्र चेतना, रूस में स्थापित

समाजवाद तथा पश्चिम के अन्य देशों में प्रचारित मार्क्सवाद के सिद्धांतों से उत्पन्न विश्वव्यापी प्रभाव के फलस्वरूप भारत में प्रगतिवाद का उदय हुआ।

'प्रगतिवाद' रचना एवं आलोचना के क्षेत्र में सर्वथा नया दृष्टिकोण लेकर आया। प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही रचना का उद्देश्य स्वीकारता है। प्रत्येक युग में यथार्थ की दो शक्तियों के मध्य द्वंद्व चलता रहता है–मरणोन्मुख पुरानी शक्तियों और नवीन जीवंत शक्तियों का। सामाजिक स्तर पर पुरानी शक्तियों में शोषक होते हैं तथा नवीन शक्तियों में शोषित गरीब, किसान मजदूर होते हैं। किसान–मजदूर शोषित का अंत कर नवीन जन समता समाज की स्थापना हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। शोषक–शोषित संघर्ष सनातन है सदियों से चलता आया है और अनादि काल तक चलता रहेगा। नवीन शक्तियां वैयक्तिक नहीं, अपितु समष्टिगत होती हैं। उनमें पीड़ा और अभाव के साथ जीवनसंघर्ष, अडिग विश्वास और भविष्य की दिव्य इच्छाएँ विद्यमान रहती है। अनेक बुनियादी तत्त्वों को ग्रहण करने वाला सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा साहित्य युगीन वास्तविक का सच्चा प्रतिनिधि होता है।

कुछ लोग प्रगतिवाद के जन्म में भारतीय परिवेश को न मानकर रूसी कम्युनिस्टों का प्रचार मात्र मानते हैं उनकी गलती है क्योंकि हमारा साहित्य का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि हमारे साहित्य की कोई भी विचारधारा ग्रियर्सन की 'भक्तिधारा' के समान एकाएक न तो उत्पन्न होती है न कोई भी विदेशी प्रभाव उसे इतना लोकप्रिय एवं सशक्त बना सकता है। प्रत्येक विचारधारा अपने स्वतंत्र रूप से क्रमशः विकसित होती हुई आगे बढ़ती है। सामयिक परिवेश, युग की मांग के अनुरूप, उसका स्वरूप निश्चित करते हुए उसे निरंतर आगे बढ़ाती रहती है जो विचारधारा जन–मन से अनुप्राणित न होकर मात्र किसी विदेशी साहित्य की नकल के आधार पर अग्रसर उसका वही परिणाम होता है जो 'हालावाद' का हुआ था। 'हालावाद' मात्र चार वर्ष ही जीवित रह सका।

प्रगतिवाद युग की मांग है। इसकी उत्पत्ति एकाएक न होकर या रूसी प्रभाव से न होकर बहुत पहले से चली आती हुई असंतोष और विद्रोह की भावनाओं का स्वाभाविक प्रतिफलन है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य की अन्य धाराओं के समकक्ष इस पर विदेशी प्रभाव भी परिलक्षित होता है। किन्तु इस प्रभाव ने उसके स्वरूप को अधिक उन्नत, स्वस्थ एवं सशक्त बनाया है।

प्रगतिवादी विचारधारा रूस की बपौती न होकर विश्वव्यापी असंतोष की वाणी है। भारत में यह विचारधारा अंग्रेजी सरकार के खिलाफ बहुत पहले से चली

आ रही थी जिसका स्वरूप अनुकूल परिवेश पाकर अब अधिक स्पष्ट और मुखर हुआ है जो भावी युगों हेतु प्रेरणा स्रोत होगा।

प्रगतिशील साहित्य समाज के युगीन संबंधों को छोड़कर हवा में शाश्वत महल का निर्माण करने वाले साहित्य को नकली एवं निर्जीव मानता है। यदि कोई शाश्वत वस्तु है तो यही नवीन सामाजिक मानवता जो सदैव पुरानी और जर्जर शक्तियों से युद्ध करती है। आज के युग में आधारभूत शक्तियां वे हैं जो पूंजीवाद को नष्ट कर समाजवाद की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसका समर्थक साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों, मजदूरों के संघर्ष को प्रकट कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूंजीवादी या सामंतवादी शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेंद्रित, जर्जर विसंगतिमय प्रवृत्तियों पर कड़ी चोट करता है। प्रगतिवाद ने सौंदर्य का नवीन स्वरूप निर्मित किया है। वह वर्तमान जनजीवन में वास्तविक सौंदर्य की अन्वेषणा करता है। सौंदर्य का संबंध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना से लक्षित होता है। प्रगतिवादी कवि नए उदीयमान समाज में सौंदर्य का दर्शन करेगा। सौंदर्य का दर्शन करने हेतु अतीत या कल्पना लोक में गोता न लगाएगा। सौंदर्य जीवन है।

प्रगति साहित्य को सोद्देश्य स्वीकारता है। उद्देश्य सहित होने का अर्थ किसी विशेष अभिप्राय या किसी विशेष दृष्टि से कला का सृजन करना है। प्रगतिवाद का मुख्य उद्देश्य कुरुप, शोषक, सड़ी-गली, विसंगतिग्रस्त शक्तियों का पर्दाफाश करना एवं नई सामाजिक शक्तियों के संघर्षों, युयुत्सा तथा आस्था को सबल बनाना है। साहित्य जनता का जनता के लिए चित्रण करता है। प्रसार साहित्य को प्रगतिवादी नकारता है। प्रचारवादी साहित्य अपने परिवेश से अलग होकर लाल सेना, लाल रूस, एवं लाल चीन की प्रशंसा के गीत गाता है। प्रचार का एक दूसरा खतरा यह भी हुआ कि कवियों ने जन-जीवन से अपने को संबद्ध किए बिना ही जन-जीवन का गीत गाना प्रारंभ कर दिया। अनुभव की जगह पर फार्मूला कविताओं की प्रेरणा बन गया।

प्रगतिवादी कविता सामाजिक जीवन की वास्तविकता को लेकर चली है इसलिए जनता तक पहुंचना तथा जनता के जीवन की बात कहना उसका लक्ष्य बन गया। इसीलिए उसने छायावाद की वायवी, असामान्य, रेशमी परिधान शालिनी सूक्ष्म भाषा का परित्याग कर सुस्पष्ट, सामान्य, प्रचलित भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। उसने प्रतीकों, शब्दों, मुहावरों तथा चित्रों का चयन सामान्य जन-जीवन से किया है। इसलिए उसकी भाषा में सादगी होते हुए

भी जीवंतता है। ऐसा प्रकट होता है मानो प्रगतिवादी कवि छायावादी रंगीन कुहासे को तोड़कर विषम यथार्थ के ठोस धरातल पर आ गया है। या तुलसीदास का रूप धारण कर छायावादियों की संस्कृतनिष्ठता अर्थात् संस्कृत भाषा को छोड़कर हिंदी की बोलचाल की भाषा को अपने काव्य का विषय बनाया जैसे तुलसीदास ने अवधी भाषा में 'रामचरितमानस' की रचना की।

शैली सांकेतिक और चित्तात्मक न होकर उपदेशात्मक बनकर रह गई है। इसीलिए काव्य का सौंदर्य निखार को प्राप्त नहीं कर पाया। प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिंदी काव्य-धारा के विकास में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा है। उसने काव्य को वैयक्तिक यथार्थ के बंद कमरे से निकालकर जनजीवन के बीच प्रवाहित कर दिया है। जीवन और साहित्य के मूल्य, सौंदर्य बोध तथा लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से संबद्ध किया, भाषा को कुहरे से बाहर निकालकर मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया। प्रगतिवादी काव्यधारा के कवियों में पं. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, त्रिलोचन तथा मुक्तिबोध आदि प्रमुख हैं।

प्रगतिवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

वैचारिक राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवाद, सामाजिक के क्षेत्र में समाजवाद दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है, वही साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद है। इस प्रकार मार्क्सवादी दृष्टिकोण से निर्मित काव्यधारा प्रगतिवाद है।

शोषक तथा शोषित वर्ग में समाज को बाँटकर यदि विचार करे तो साम्यवाद का केन्द्र श्रमिक वर्ग ही है। प्रगतिवादी रचना में दलित, मजदूर शोषित के प्रति विशेष भाव व्यक्त किया जाता है। प्रगति का सामान्य अर्थ है- आगे बढ़ना, जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहयोग करता हो वह प्रगतिशील साहित्य है।

प्रगतिवादी कवियों में सुमित्रानंदन पंत, शिवमंगला सिंह, सुमन, उदयशंकर भट्ट, नागार्जुन, नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, राम विलास शर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आदि।

प्रगतिवादी काव्यधारा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. **क्रांति की भावना**- प्रगतिवादी कवियों ने शोषित वर्गों के प्रति सहानुभूति दर्शाने तथा प्राचीन परम्पराओं को खत्म करने के लिए क्रान्ति का आह्वान किया है।

वे समानता स्थापित करने के लिए समाज में आमूलचूल परिवर्तन करना चाहते हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की यह पंक्तियाँ देखने योग्य हैं–

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए।"

2. शोषकों के प्रति विद्रोह, शोषितों के प्रति सहानुभूति–प्रगतिवादी कवियों ने शोषक वर्ग को घोर स्वार्थी, निर्दयी एवं कपटी के रूप में चित्रित किया है। इनकी मान्यता है कि पूँजीपति गरीबों का रक्त चूस-चूसकर सुख-चैन की नींद सोते हैं।

वह बड़े व्यापारी, जमींदार तथा उद्योगपति जैसे शोषक वर्ग की समाप्ति चाहता है। उनकी दृष्टि में शोषण की नींव पर खड़े समाज का नष्ट हो जाना ही श्रेयस्कर है, दिनकर के शब्दों में –

"श्वानों को मिलता वस्त्र, दूध बच्चे अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं।"

इस काव्यधारा का मूल केन्द्र शोषित वर्ग है। कवियों ने शोषण से पीड़ित मजदूरों और किसानों की दयनीय दशा का सुन्दर चित्रण किया है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'भिक्षुक' का वर्णन इस प्रकार करते हैं –

"वह आता दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।"

3. मानवतावादी दृष्टिकोण- प्रगतिवादी साहित्यकार मानव की शक्तियों पर असीम आस्था प्रकट करता है। उसके अनुसार ईश्वर नहीं, मानव ही अपने भाग्य का निर्माता है। ईश्वर के नाम पर हो रहे शोषण से कुंठित होकर वह कहता है–

"जिसे तुम कहते हो भगवान
जो बरसाता है जीवन में
रोग, शोक, दुःख-दैन्य अपार
उसे सुनाने चले पुकार।"
उसे ईश्वर पर आस्था नहीं है।

4. रूढ़ियों का प्रबल विरोध–प्रगतिवादी कवियों का ईश्वर की सत्ता, आत्मा, परमात्मा, परलोक, भाग्यवाद, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि पर विश्वास नहीं है। उनकी दृष्टि में मानव की महत्ता सर्वोपरि है। उनके लिए धर्म एक अफीम के नशे के समान है। प्रगतिवादी कवियों ने अंधविश्वास और रूढ़ियों पर गहरा प्रहार किया है।

5. **यथार्थ चित्रण**- प्रगतिवादी काव्य में निम्नवर्ग के जीवन की प्रतिबिम्बत हुई। इससे पहले साहित्य में मध्यवर्ग तथा उच्चवर्ग का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ था। कवियों ने प्रकृति के रमणीय चित्र खींचने के स्थान पर नगर और ग्रामीण जीवन के नग्न यथार्थ रूप का चित्रण किया है। शोषण के दुष्परिणाम प्रकट के लिए उन्होंने ऐसा वर्णन किया है। निम्न वर्ग के कुरुचिपूर्ण जीवन के साथ उन्होंने सहानुभूति व्यक्त की है। एक उदाहरण देखिए–

"सड़े घूर की गोबर की बदबू से दबकर,
महक जिन्दगी के गुलाब की भर जाती है।"

–केदारनाथ अग्रवाल

कवि को व्यक्ति तथा समाज की कड़वी सच्चाईयों के सामने ऐश्वर्य, विलास एवं मादक वसंत सभी फीके लगने लगते हैं। जीवन के अनाचार, पीड़ित की हाहाकार ने उसे व्यथित बना दिया है। ताजमहल के संबंध में पंत जी लिखते हैं–

"हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन।"

इसी प्रकार भारत के ग्रामों का वर्णन करते हुए कवि पंत ने लिखा है–

"यह तो मानव लोक नहीं है, यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।"

6. मार्क्स का गुणगान- प्रगतिवादी कवियों ने इस बात का विचार किए बिना कि रूस की मान्यताएं भारत के लिए उपयोगी हैं या नहीं, धारा के बहुत से कवियों ने मार्क्स और रूस का गुणगान किया है। पंत जी कार्ल मार्क्स के प्रति कुछ इस प्रकार के भाव प्रकट करते हैं–

"धन्य मार्क्स चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञात चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।"

उपर्युक्त पंक्तियों में पंत जी ने मार्क्स को प्रलयंकारी शिव का तीसरा नेत्र बताया है तो नरेन्द्र शर्मा रूस का गुणगान करते हुए कहते हैं–

"लाल रूस है ढाल साथियो
सब मजदूर किसानों की।"

7. वेदना चित्रण- प्रगतिवाद की वेदना संघर्षों से जूझने की सामाजिक वेदना है। निराशा हेतु उसमें कोई स्थान नहीं। प्रगतिवादी इसी विश्व को स्वर्ग बनाना चाहते हैं जिसमें वर्ग भेद, शोषण और रूढ़ियों का का चिह्न नहीं होगा।

कवि निराला की बंगाल के अकाल पर अभिव्यक्ति वेदना हृदय को भयांव्रात करने वाली है–

"बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर,
धर्म धीरज प्राण खोकर, हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है।"

नागार्जुन आज की थोथी आजादी पर अपनी वेदना व्यक्त करते हुए कहते हैं–

"कागज की आजादी मिली
ले लो दो-दो आने में।"

8. शिल्प योजना- प्रगतिवादी साहित्य जनता का साहित्य है। इसलिए उसकी भाषा भी जनभाषा है। भाषा सरल है। प्रगतिवादी कवियों का आदर्श था-जन-मन-तक अपने विचारों को संप्रेषित करना। इसके लिए उन्होंने बोलचाल की शब्दावली को भी प्रयोग किया है। प्राय: इस युग का साहित्य अमिधा प्रधान है। अलंकारों के सहज प्रयोग से अभिव्यक्ति स्पष्ट है। प्रगतिवादी काव्य में मुक्तक और अतुकान्त छंदों के साथ गीतों और लोकगीतों की शैली का भी प्रयोग किया गया है।

प्रगतिवादी काव्य का अपना एक पृथकर महत्व है। वह जीवन के भौतिक पक्ष का उत्थान करना चाहता है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में-"भारत में प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बंधा हुआ है। परन्तु फिर भी आधुनिक काव्य के अध्येयता को उसका अध्ययन आदर और धैर्यपूर्वक करना होगा। उसने हिंदी काव्य को जीवंत चेतना प्रदान की है। इसका निषेध नहीं किया जा सकता।" फलत: प्रगतिवादी कविता का अपना महत्व है।

9. सांस्कृतिक समन्वय- प्रगतिवादी साहित्यकार की दृष्टि व्यक्ति, परिवार, स्वदेश तक सीमित न होकर सम्पूर्ण विश्व तक व्याप्त है। उसका स्वर मान्यतावादी है। जापान के ध्वस्त शहरों की पीड़ा से वह भी व्यथित है। अत: यह क्रन्दन और चीत्कार कर पुकार उठता है–

"एक दिन न्यूयार्क भी मेरी तरह हो जाएगा
जिसने मिटाया है मुझे, वह भी मिटाया जाएगा।"

प्रगतिवादी कवि की दृष्टि में हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी मानव के नाते बराबर हैं।

10. नारी भावना- प्रगतिवादी कवि नारी-स्वतंत्रता का पक्षधर है। उसने नारी को पुरुष के समकक्ष उसकी सहयोगिनी के रूप में स्वीकार किया है। साथ

ही उसे उसका हक दिलाने के लिए प्रबल आवाज भी उठाई है। प्रगतिवादी कवि के लिए मजदूर तथा किसान के समान नारी भी शोषित है जो कि युग-युग से सामंतवाद की धारा में पुरुष की गुलायी की शृंखलाओं में बन्दिनी के रूप में पड़ी है। वह अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व खो चुकी है और वह केवल मात्र रह गई है पुरुष की वासना-तृप्ति का उपकरण। अत: पंत कहते हैं–

"योनि नहीं रे नारी, वह भी मानव प्रतिष्ठित है।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रे न नर पर अवसित॥"

कवि पंत पुन: कहते हैं–

"मुक्त करो नारी को।"

प्रगतिवादी प्रमुख रचनाकार

केदारनाथ अग्रवाल

व्यक्तित्त्व- केदारनाथ अग्रवाल का जन्म 9 जुलाई, सन् 1911 ई. में कमासिन जनपद बांदा में हुआ। बी.ए. एल.एल.बी. उत्तीर्ण कर बांदा में ही वकालत करते थे।

कृतित्त्व

संकलन-"फूल नहीं रंग बोलते हैं" संकलन में 'मांझी न बजाओ वंशी' तथा 'वसंती हवा' आदि कविताएं संग्रहीत हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–अग्रवाल प्रगतिवादी वर्ग के सशक्त कवि हैं। इनकी कविताओं में उद्‌बोधन का आधिक्य है। अग्रवाल की कविताओं में मानव एवं प्रकृति के सौंदर्य का अति सहज, गतिवान तथा उन्मुक्त रूप प्रस्तुत किया गया है। 'मांझी न बजाओ वंशी' तथा 'वसंती हवा' आदि कविताओं में प्रगतिकालीन सहज सौंदर्य का स्वरूप अवलोकनीय है–

"आज नदी बिलकुल उदास थी
सोयी थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था
मैंने उसको नहीं जगाया

दबे पांव वापस घर आया।"
-'फूल नहीं रंग बोलते हैं'।

रामविलास शर्मा

व्यक्तित्त्व- डॉ. राम विलास शर्मा का जन्म सन् 1912 ई. में झांसी में हुआ था। अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करके पी.एच.डी. की।

बलवंत राजपूत कॉलेज आगरा में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। उसके पश्चात् केन्द्रीय हिंदी संस्थान आगरा में कार्य किया। प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री तथा 'हम' के संपादक भी रहे हैं। प्रख्यात प्रगतिवादी समीक्षक हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–राम विलास शर्मा की कविताओं में सादगी, गति तथा सहजता की प्रधानता रही है। प्रचार एवं नारे बाजी से अपने को मुक्त नहीं कर पाए। स्थूल व्यंग्यों का इनकी कविताओं में बुलाता है। अतिवादिताओं से मुक्त होकर तथा सामाजिक संवेदना को आत्मसात कर उसे सरल वेगवान भाषा में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

नागार्जुन

व्यक्तित्त्व- नागार्जुन का जन्म सन् 1910 ई. में तरौना जनपद दरभंगा में हुआ था। स्कूल शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाये। घर पर ही हिंदी संस्कृत का अच्छा स्वाध्याय किया। इनका स्वभाव घुमक्कड़ी था। स्वतंत्र लेखन कार्य किया। इनका असली नाम वैद्यनाथ मिश्र था। उपनाम 'यात्री' था इसी नाम से मैथिली में कविताएं लिखते थे। कवि के अलावा ये हिंदी के प्रमुख उपन्यासकार भी थे।

कृतित्त्व–'बादल को घिरते देखा', 'पाषाणी', 'चंदना', 'रवीन्द्र के प्रति' 'सिंदूर तिलकित भाल', 'तुम्हारी दंतुरित मुसकान' आदि इनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएं हैं।'

साहित्यिक विशेषताएं–नागार्जुन की कविताएं मुख्यत: तीन प्रकार की हैं-

1. कुछ कविताएं गंभीर संवेदनात्मक और कलात्मक हैं जिनमें कवि ने मानव मन की रागात्मक एवं सौंदर्यमयी छवियों को चित्रित किया है तथा मानवीय संभावनाओं के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति हुई है।
2. सामाजिक कुरूपता, राजनीतिक अव्यवस्था तथा धार्मिक अंधविश्वास पर करारा व्यंग्य किया है। शिक्षा व्यवस्था पर किया गया व्यंग्य अवलोकनीय है–

"घुन खाए राहतीरों पर की बारहखड़ी विधाता बांचे,
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर विस्तुइया नाचे,
बरसा कर बेबस बच्चों पर, मिनट-मिनट पर पांच तमाचे,
इसी तरह से दुखरन मास्टर, गढ़ता है आदम के सांचे।"

– 'युगधारा'

3. इस कोटि की रचनाएं उद्‌बोधनात्मक हैं, किन्तु काव्य-तत्त्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं।

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

व्यक्तित्त्व- शिव मंगल सिंह 'सुमन' का जन्म 14 अगस्त, सन् 1915 ई. को झामपुर मध्य प्रदेश में हुआ था। हिंदी साहित्य में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण कर पी.एच.डी. एवं डी.लिट. किया। सन् 1942 ई. में विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियर में प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए। तब से शिक्षा संबंधी विभिन्न कार्य करते रहे। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के कुलपति रहे। सन् 1956-61 ई. तक भारतीय दूतावास काठमांडू, नेपाल में सूचना तथा सांस्कृतिक सहचारी के रूप में कार्य किया।

साहित्यिक विशेषताएं–डॉ. शिव मंगल सिंह 'सुमन' की कविताएं दो प्रकार की हैं–

1. गीत अथवा छोटी-छोटी कविताएं हैं।
2. कविताएं दीर्घ तथा उपदेशात्मक हैं।

उनकी छोटी-छोटी कविताएं और गीत कला और प्रभाव के दृष्टिकोण से अलग प्रतीत होते हैं। दीर्घ कविताएं आयाम बड़ा होने से स्थान तो अधिक घेरती हैं उनका प्रभाव भी समन्वित न होकर टूट जाता है। लंबी कविताएं ध्वन्यात्मक एवं चित्रात्मक न होकर इतिवृन्तात्मक हैं।

त्रिलोचन

व्यक्तित्त्व- त्रिलोचन का जन्म 20 अगस्त, 1917 ई. को कटघरा पट्‌टी जनपद सुलतानपुर में हुआ। उन्होंने शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की।

उसके पश्चात् बी.ए. की परीक्षा पास की। 'हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग' तथा 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी' के कोश निर्माण कार्य से सम्बन्धित

रहे। वाराणसी के 'जनवार्ता' सम्पादकीय विभाग में भी कार्य किया। 'हंस' का संपादन किया। वास्तविक नाम वासुदेव सिंह था।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताओं में अत्यधिक सादापन विद्यमान है। प्रत्येक कविता में धरती की सोंधी गंध भरी है। सतसैया के दोहों के समान इनकी कविताएं-"देखन में छोटी लगें, भाव करें गंभीर' अर्थात इनकी कविताओं का आकार छोटा है, किंतु प्रभाव में तीव्रता है।

मुक्तिबोध- विश्वासों एवं संवेदनाओं में जनवादी हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताएं प्रगतिशील हैं। किन्तु इन्हें नई कविता के अंतर्गत रखना औचित्य पूर्ण होगा। इन कवियों के अलावा अज्ञेय, भारत भूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुर सिंह तथा धर्मवीर भारती भी किसी न किसी रूप में प्रगतिवादी हैं, किन्तु मूलतः इन्हें प्रगतिवाद में स्थान नहीं मिला है।

9

प्रयोगवादी हिन्दी साहित्य

प्रयोग शब्द का सामान्य अर्थ है, 'नई दिशा में अन्वेषण का प्रयास'। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग निरंतर चलते रहते हैं। काव्य के क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया स्वरूप या नवीन युग-सापेक्ष चेतना की अभिव्यक्ति हेतु प्रयोग होते रहे हैं। सभी जागरुक कवियों में रूढ़ियों को तोड़कर या सृजित पथ को छोड़ कर नवीन पगडंडियों पर चलने की प्रवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है। चाहे यह पगडंडी राजपथ का रूप ग्रहण न कर सके। सन् 1943 या इससे भी पांच-छह वर्ष पूर्व हिंदी कविता में प्रयोगवादी कही जाने वाली कविता की पग-ध्वनि सुनाई देने लगी थी। कुछ लोगों का मानना है कि 1939 में नरोत्तम नागर के संपादकत्व में निकलने वाली पत्रिका 'उच्छृंखल' में इस प्रकार की कविताएं छपने लगी थी जिसमें 'अस्वीकार', 'आत्यंतिक विच्छेद' और व्यापक 'मूर्ति-भंजन' का स्वर मुखर था तो कुछ लोग निराला की 'नये पत्तें', 'बेला' और 'कुकुरमुत्ता' में इस नवीन काव्य-धारा के लक्षण देखते हैं। लेकिन 1943 में अज्ञेय के संपादन में 'तार-सप्तक' के प्रकाशन से प्रयोगवादी कविता का आकार स्पष्ट होने लगा और दूसरे तार-सप्तक के प्रकाशन वर्ष 1951 तक यह स्पष्ट हो गया।

प्रयोगवाद का जन्म 'छायावाद' और 'प्रगतिवाद' की रूढ़ियों की प्रतिक्रिया में हुआ। डॉ. नगेन्द्र प्रयोगवाद के उत्थान के विषय में लिखते हैं,-'भाव क्षेत्र में छायावाद की अतिन्द्रियता और वायवी सौंदर्य चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत, मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ और सौंदर्य की परिधि में केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त पुरुष, अनगढ़, भदेश का समावेश हुआ।' छायावादी कविता

में वैयक्तिकता तो थी, किंतु उस वैयक्तिकता में उदात्त भावना थी। इसके विपरीत्त प्रगतिवाद में यथार्थ का चित्रण तो था, किंतु उसका प्रतिपाद्य विषय पूर्णतः सामाजिक समस्याओं पर आधारित था और उसमें राजनीति की बू थी। अतः इन दोनों की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवाद का उद्‌भव हुआ, जो 'घोर अहंमवादी', 'वैयक्तिकता' एवं 'नग्न-यथार्थवाद' को लेकर चला। 'श्री लक्ष्मी कांत वर्मा के शब्दों में,' प्रथम तो छायावाद ने अपने शब्दाडम्बर में बहुत से शब्दों और बिम्बों के गतिशील तत्त्वों को नष्ट कर दिया था। दूसरे, प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव-स्तरों एवं शब्द-संस्कार को अभिधात्मक बना दिया था। ऐसी स्थिति में नए भाव-बोध को व्यक्त करने के लिए न तो शब्दों में सामर्थ्य था और न परम्परा से मिली हुई शैली में। परिणामस्वरूप उन कवियों को जो इनसे पृथक थे, सर्वथा नया स्वर और नये माध्यमों का प्रयोग करना पड़ा। ऐसा इसलिए और भी करना पड़ा, क्योंकि भाव-स्तर की नई अनुभूतियां विषय और संदर्भ में इन दोनों से सर्वथा भिन्न थी।

प्रयोगवाद नाम तारसप्तक में अज्ञेय के इस वक्तव्य से लिया गया-'प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किए हैं। किंतु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नहीं गया था जिनको अभेद्य मान लिया गया है।'

इन अन्वेषणकर्ता कवियों में अज्ञेय ने तार सप्तक में ऐसे सात-सात कवियों को अपनाया 'जो किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी एक विचारधारा के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुंचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं- राही नहीं, राहों के अन्वेषी।...काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है।...उन में मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषय में उनकी अलग-अलग राय है- जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के छंद और तुक में, कवि के दायित्वों के, प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहां तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं सिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे- लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब एक-दूसरे की रुचियों, कृतियों और आशाओं और विश्वासों पर एक-दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और यहां तक कि एक-दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हंसते हैं।'

प्रयोगवादी कवियों का नए के प्रति यह आग्रह ही इन्हें प्रयोगवादी बनाता है। प्रयोगवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इस धारा के कवियों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं–

अज्ञेय –प्रयोगशील कविता में नए सत्यों, नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक संबंध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुंचाने यानी साधारणीकरण की शक्ति भी है।

डॉ. धर्मवीर भारती– प्रयोगवादी कविता में भावना है, किंतु हर भावना के आगे एक प्रश्न-चिह्न लगा है। इसी प्रश्न-चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढांचा चरमरा उठा है और यह प्रश्नचिह्न उसी की ध्वनि-मात्र है।

श्री गिरिजाकुमार माथुर– प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खंड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को नवानुकूल माध्यम देना, जिसमें व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।

प्रयोगवाद को आकार देने में जहां 'सप्तकों' की भूमिका रही वहीं अनेक पत्रिकाओं ने भी इसकी राह को सरल बनाया। तार-सप्तकों की संख्या चार है। पहला सप्तक 1943, दूसरा 1951, तीसरा 1959 और चौथा सप्तक 1979 में प्रकाशित हुआ। पत्रिकाओं में' प्रतीक', 'पाटल', 'दृष्टिकोण', 'कल्पना', 'अजंता', 'राष्ट्रवाणी', 'धर्मयुग', 'नई कविता', 'निकष', 'ज्ञानोदय', 'कृति', श्लहर', 'निष्ठा', 'शताब्दी', 'ज्योत्स्ना', 'आजकल', 'कल्पना आदि हैं।

प्रयोगवाद को प्रतीकों की प्रधानता और नवीन प्रतीकों को अपनाने के कारण 'प्रतीकवाद' नाम से भी अभिहित किया गया। प्रयोगवाद से कुछ लोगों का अभिप्राय 'रूपवाद' अथवा 'फार्मलिज्म' तक सीमित है। लेकिन रूपवाद प्रयोगवाद की शाखा-मात्र है। क्योंकि प्रयोगवादी केवल रूप-विधान या तकनीक पर ही ध्यान नहीं देते, उसमें अन्य तत्त्व भी मौजूद हैं।

प्रयोगवाद के भीतर ही 'प्रपद्यवाद' या 'नकेनवाद' भी पनपा लेकिन वह प्रयोगवाद की एक छोटी शाखा-मात्र बन कर रह गया। नकेनवाद बिहार में प्रचलित हुआ। 'नलिन विलोचन शर्मा', 'केसरीकुमार' और 'नरेश' नामों के प्रथम अक्षर से बना है नकेन। नकेनवादी तीनों कवियों ने 'प्रयोग-दशसूत्री' में प्रयोगवाद और प्रयोगशीलता में अंतर स्पष्ट किया है। ये प्रयोग को ही काव्य का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं।

डॉ जगदीश चंद्र गुप्त और श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 1954 में' नई कविता' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। इसने प्रयोगवादी कविता को नई

कविता का नाम दिया। कुछ आलोचक नई कविता और प्रयोगवाद में कोई अंतर नहीं मानते जबकि कुछ का मानना है कि दोनों को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। हमारे दृष्टिकोण से नई कविता प्रयोगवाद का ही विकसित या स्थापित हुआ रूप है। प्रयोगवादी कविता जब काव्य जगत में स्वीकृत हो गईं तो उसे नई कविता के नाम से अभिहित किया गया। जो लोग प्रयोगवाद और नई कविता को अलग-अलग रूप में देखते हैं वे दलगत राजनीति के शिकार हैं।

प्रयोगवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

'तारसप्तक' ने उसको समेकित रूप से एक निश्चित रूपाकार प्रदान किया तथा, हिन्दी कविता के अन्तर्गत यह नव्य काव्यधारा प्रयोगवाद की संज्ञा से जानी जाती है। प्रयोगवादी कविता प्रयोग पर आधारित थी। इस काव्यधारा की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएं इस प्रकार हैं–

वैयक्तिकता

प्रयोगवादी कविता में वैयक्तिकता की अभिव्यंजना अनेक रूपों में हुई है। सामान्य रूप में, रचनाकार की यही आत्मानुभूति सर्वानुभूति बनकर साहित्य की संज्ञा प्राप्त करती थी, और करती है, परन्तु सबसे पहले प्रयोगवादी काव्य में नितान्त व्यक्ति की अपनी अनुभूति और भावना अभिव्यंजित हुई है। प्रयोगवादी कवियों के अहं भाव से ही उनमें गहन वैयक्तिकता उत्पन्न हुई है। वहाँ पर अहं एक सम्पूर्ण वाद के रूप में आया है। कवि नरेश कुमार कहते हैं–

"विश्व के इस रेल-वन पर
मैं अहं का मेघ हूँ
क्या नहीं तुम देखते?
आज मेरे कन्धों पर गगन बैठा हुआ है।"

अज्ञेय ने भी इस अहंनिष्ठ वैयक्तिकता का स्वर अपने काव्य में मुखर प्रदान किया है। अज्ञेय को इस बात का पूर्वाभास था कि प्रयोगवादी कवि जिस गहन वैयक्तिकता में है, वह उनका वरेण्य नहीं हो सकता है, जिससे उनको निकालना ही पड़ेगा। 'हरी घास पर क्षण भर', 'कितनी शांति', 'छंद है यह फूल' आदि कविताओं में अहं की काया से स्वतंत्र होने की कामना को कवि ने रेखांकित किया है।

अति बौद्धिकता

अतिशय बौद्धिकता प्रयोगवादी काव्य की अन्यतम विशेषता है। प्रयोगवादी कवि सारे तथ्यों का दर्शन बुद्धि के ही प्रकाश में करते हैं। धर्मवीर भारती के अनुसार इस बौद्धिकता का जन्म हर भावना के आगे लगे हुए एक प्रश्नचिन्ह से होता है। उन्होंने लिखा हैं कि 'प्रयोगवादी कविता में भावना है, किन्तु हर भावना के सामने एक प्रश्नचिन्ह लगा हुआ है। इसी प्रश्नचिन्ह को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढांचा चरमरा उठा है और यह प्रश्नचिन्ह उसी की ध्वनिमात्र है।' डॉ. नगेन्द्र ने इस काव्य में बौद्धिकता के व्यवहार पर चिन्ता प्रकट की है। वे कविता में राग तत्त्व को ही प्रधान मानते हैं, क्योंकि उनका दृष्टिकोण है कि जिस काव्य में बुद्धित्व राग तत्त्व से प्रबल हो जाता है, वहाँ काव्यात्मकता धूमिल हो जाती है।

प्रयोगवादी कविता की अतिशय बौद्धिकता को स्वीकार किया जा सकता है। प्रयोगवादी कवियों ने आक्रोश, झुँझलाहट, व्यंग्य, विद्रोह, सत्यकथन, स्वविश्लेषण, पर-विश्लेषण तथा तथ्य-निरूपण पर अपने बौद्धिक उत्कर्ष का परिचय दिया है। अज्ञेय की 'हरी घास पर क्षणभर' काव्य संग्रह में अनेक कविताएँ बौद्धिकता से उत्पन्न हुई हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है–

"चलो उठें अब
अब तक हम थे बन्धु
सैर को आए
और रहे बैठे तो
लोग कहेंगे
धुंधले में दुबके दो प्रेमी बैठे हैं
वह हम हों भी
तो यह हरी घास ही जाने"

संशय और प्रश्नाकुलता इस अवतरण-संदर्भ को बौद्धिकता से बांध रही है। कवि के मन में समाज से एक अज्ञात डर समाया हुआ है। यहाँ पर तर्क का सहारा लेकर कवि ने अपनी उसी सन्देहास्पद स्थिति को स्पष्ट करना चाहा है। यह बौद्धिकता प्रयोगवाद में कई रूपों में प्रकट हुई है। अज्ञेय और मुक्तिबोध आदि तो स्व या अपने का विश्लेषण करते हुए इसका आश्रय लेते हैं और प्रभाकर माचवे तथा भारतभूषण आदि वार्तालाप की शैली में इसकी अभिव्यक्ति करते हैं।

अनास्था

बौद्धिकता से रागतत्त्व नष्ट हो जाता है और रागात्मक शक्ति के विनाश से ही संशय और अनास्था की उत्पत्ति होती है। अतिशय बौद्धिकता के कारण ही प्रयोगवादी कविता में अनास्था की भावना पैदा हुई है। इसी अनास्था के कारण प्रयोगवादी कवियों के मन में निराशा, कुण्ठा, पाप-बोध, दु:ख और पराजय की भावना को स्थान मिला है। अज्ञेय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध आदि रचनाकार ने अपने काव्य में अनास्था के कारण पूजा की एक नयीं व्याख्या करते हुए कहते हैं–

"मैं छोड़ कर पूजा
क्योंकि पूजा है पराजय का विनत स्वीकार
बाँधकर मुट्ठी तुझे ललकारता हूँ।
सुन रही है तू?
मैं खड़ा तुमको यहाँ ललकारता हूँ।"

'सागर-मुद्रा' में अज्ञेय ने युग-युग से कृष्ण के पवित्र-प्रतिष्ठित प्यार को प्रश्न के घेरे में घेर दिया है। वे 'कन्हाई ने प्यार किया' नामक कविता में कृष्ण के प्यार पर प्रश्न उठाते हुए कह रहे हैं कि–

"कन्हाई ने प्यार किया कितनी गोपियों को कितनी बार।
पर उड़ेलते रहे अपना सारा दुलार
उस एक रूप पर जिसे कभी पाया नहीं-
जो कभी हाथ नहीं आया।
कभी तो प्रेयसी में उसी को पा लिया होता
तो दोबारा किसी को प्यार क्यों किया होता?"

आस्था की भावना

प्रयोगवादी कवियों ने अपनी कविताओं में अनास्था और शंका को ही नहीं, आस्था और विश्वास को भी स्थान दिया है। उनकी यह आस्था उनकी अनास्था से अधिक सहज और शक्तिवान् लगती है। यद्यपि ये कवि निराशा, कुण्ठा, वेदना और पराजय की भावना से ग्रस्त हैं, फिर भी ये उसी के अन्तराल से ऊर्ध्वगामी चेतना का प्रकट करते हैं, अपनी रुग्ण मानसिकता को स्वस्थ आलोक प्रदान करते हैं। अज्ञेय आस्था के प्रति कृतज्ञता और उसकी सुदृढ़ता की कामना व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा हैं कि–

"हम में तो आस्था हैं, कृतज्ञ होते।
आस्था न काँपे
मानव फिर मिट्टी का भी, हो जाता है।"

प्रयोगवादी कवियों ने पराजय, अविश्वास तथा मृत्यु का ही वरण नहीं किया। यदि उनमें ऐसा ही भाव होता तो प्रभाकर माचवे प्रकाश-प्रसन्न ऐसी उत्साहजनक कविता क्यों लिखते–

"नया प्रकाश चाहिए, नया प्रकाश चाहिए
पुकारती दिशा-दिशा
मिटे तृष्णा, मिटे निशा
बहुत हुआ उदास मन
हमें सुहास चाहिए"

प्रयोगवाद के सम्पूर्ण भाव-बोध को प्रत्यक्ष कर कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी कवियों की पराजय और अनास्था की भावना एक सीमा तक है। उसके बाद उनकी समस्त रुग्ण मानसिकता आस्था की सजल सरिता में स्नात होकर स्वस्थ और सबल बन जाती है। यह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जीवन का निर्माण एक जैसे प्रकृति तत्त्वों के सम्मेल से नहीं हो सकता है। सुख-दु:ख, आस्था-अनास्था, जय-पराजय के ताने-बाने से ही उनकी सफल रचना होती है। ये द्वंद्व ही जीवन को अस्तित्त्व प्रदान करते हैं। और जीवन को अपने चक्रीय भ्रमण से व्याप्त बनाते हैं।

यथार्थ चित्रण

माना जाता है कि प्रगतिवाद में समाजवाद और प्रयोगवाद में व्यक्तिवाद का स्वर प्रतिपादित किया गया है, लेकिन जहाँ तक दोनों के तात्त्विक स्वरूप का प्रश्न है, दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। समाजवाद के अन्तर्गत व्यक्ति का अध्ययन समाज से आरम्भ होकर व्यक्ति पर पहुँचता है और प्रयोगवाद के अंतर्गत यही अध्ययन व्यक्ति से आरम्भ होकर समाज तक पहुँचता है। दोनों धाराओं के अंतर्गत व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि समाज की निर्मिति व्यक्ति से ही तो होती है। डॉ. रघुवंश ने प्रयोगवादी सामाजिकता के संदर्भ में लिखा है कि इन सभी कवियों में सामाजिकता के प्रति जागरुकता है, इनमें से कोई भी उस कोटि का असामाजिक नहीं करता है, जिस कोटि के योरोप के पिछले युग से ही भिन्न वादों के अंतर्गत प्रतीत हुई हैं।

अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा आदि सभी कवियों की रचनाओं में सामाजिक यथार्थ का प्रकटीकरण हुआ है। यहाँ पर एक तथ्य और इंगित कर देना समीचीन प्रतीत होता है कि तारसप्तक अथवा प्रयोगवाद के कवि का यह सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण कहीं-न-कहीं मार्क्सवादी चिन्तनधारा और उसके समाजवाद से निश्चिय ही अनुप्रेरित है। मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा और नेमिचन्द्र जैन तो अपने को मार्क्सवादी स्वीकार भी कर चुके हैं। अज्ञेय पर व्यक्तिवादी होने का सबसे बड़ा आरोप लगाया जाता है। उनके काव्य को पढ़ने के बाद यह स्थापना मिथ्या प्रतीत होने लगती है। अज्ञेय ने समाज को उसकी विशालता और यथार्थता के साथ स्वीकार किया है।

'इन्द्रधनुष रौंदे हुये ये' नामक कविता में अज्ञेय ने समाज को उसकी समग्र यथार्थता के साथ ग्रहण किया है–

"रुई धुनता है, गारा सानता है, खटिया बुनता है,
मशक से सड़क सींचता है,
रिक्शा में अपना ही प्रतिरूप लादे खींचता है,
जो भी जहाँ भी पिसता है
पर हारता नहीं, न मिटता है-
पीड़ित श्रमरत मानव
कमकर, श्रमकर, शिल्पी सृष्टा
उसकी मैं कथा कहता हूँ
दूर दूर दूर मैं वहाँ हूँ"

क्षणवाद

क्षणवादी प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में अस्तित्त्ववादी विचारधारा काम करती है। प्रयोगवादी काव्यधारा के अंतर्गत यह प्रवृत्ति पाश्चात्य चिन्तन के कारण आई है। क्षणवादियों की मान्यता है कि जीवन का एक आनन्दमय क्षण सम्पूर्ण जीवन से अधिक वरेण्य होता है। क्षणवादी वर्तमान में ही जीता है, भविष्य के प्रति उसके मन में कोई स्वर्णिम स्वप्न नहीं होता है। हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों ने क्षणवाद को बड़ी व्यापकता के साथ ग्रहण किया है। अज्ञेय तो इस क्षण का जोरदार पक्ष लेते ही हैं और धर्मवीर भारती भी इससे ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं।

क्षण की इसी पकड़ ने प्रयोगवादी कवियों को अस्तित्त्व का भी बोध कराया। अज्ञेय की 'नदी के द्वीप', गिरिजाकुमार माथुर के 'शिलापंख चमकीले', 'पृथ्वीकल्प', मुक्तिबोध का 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' और भारती का 'टूटा पहिया' नामक कविताओं अथवा काव्य-संग्रहों में अस्तित्त्वबोध का गहरा भाव उपस्थित है। सम्पूर्ण 'अंधायुग' त्रासद अस्तित्त्व की गाथा है। पौराणिक आख्यान के माध्यम से धर्मवीर भारती लघु से लघुतर और लघुतम व्यक्ति और पदार्थ की पहचान को अस्तित्त्व प्रदान करते हुए लिखते हैं कि–

"मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षैहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाये
बड़े-बड़े महारथी
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
निहत्थी अकेली आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उनके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।"

मानवतावाद

मानव और मानवतावाद की अवहेलना करके कोई भी साहित्य रचा नहीं जा सकता है। रचनाकार का परिवेश उसकी रचना में विद्यमान रहता है। परिवेश रचनाकार को विषयवस्तु देता है। सारे सुखद और दुखद भाव, उछलती और घुटती जिन्दगी अपनी सर्वांगीणता के साथ रचना के अमूर्त रचनात्मक स्वरूप होते हैं। कतिपय समालोचकों की धारणा है कि प्रयोगवादी कविता व्यक्तिनिष्ठ है समाजसापेक्ष नहीं, इसलिए वहाँ मानवतावादी विचारधारा को स्थान प्राप्त हुआ नहीं है, लेकिन इस दृष्टिकोण की संगति प्रयोगवादी कविता के प्रतिपाद्य-पदार्थ के साथ नहीं बैठती। कहने को केन्द्रीय पदार्थ-प्रतिपाद्य मानव ही है। यह मानव विराट्-जगत् में कहाँ-कहाँ किस-किस तरह से जी रहा है। इसका जीवन्त और सजल चित्रण प्रयोगवादी कविता में हुआ है। अज्ञेय (इन्द्रधनुष रौंदे हुये ये), प्रभाकर माचवे (बीसवीं सदी), गिरिजाकुमार माथुर (धूप के धान), मुक्तिबोध

(चाँद का मुँह टेढ़ा है), सर्वेश्वर दयाल (पोस्टर और आदमी), भारती (सात गीत वर्ष) की अधिकतर रचनाओं में समसामयिक मानव के वास्तविक रूप को ग्रहण किया गया है। अज्ञेय जीवन जीने हेतु और रोजी-रोटी के लिए संघर्ष करने वाले मनुष्यों की कथा कहने की प्रतिबद्धता की घोषणा करते हुए लिखा हैं कि–

"जो भी जहाँ भी पिसता है
पर हारता नहीं, न मरता है-
पीड़ित श्रमरत मानव
अविजित दुर्जेय मानव
कमकर, श्रमकर, शिल्पी, सृष्टा
उसकी मैं कथा कहता हूँ"

अज्ञेय हों चाहे धर्मवीर भारती, मुक्तिबोध हों चाहे सर्वेश्वरदयाल सक्सेना या कुँवर नारायण आदि कवि हों, सभी की रचनात्मक प्रकृति अस्तित्त्ववादी और क्षणवादी चिन्तन से प्रभावित हैं। हाँ, यह जरूर है कि अज्ञेय और भारती इससे अधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं।

शृंगारिकता

प्रयोगवादी कवियों ने फ्रायड के मनो-विश्लेषणवाद से काफी कुछ ग्रहण किया है। इसीलिए इनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर शृंगार की पवित्र और सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है वहीं दूसरी तरफ मांसल शृंगार और भोग-भावना का भी व्यापक चित्रण हुआ है। कविवर अज्ञेय ने आधुनिक मानव को यौन वर्जनाओं का पुंज स्वीकार किया है। वे 'तारसप्तक' में लिखते हैं कि –'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से आरोपित है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है, उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं। 'सावन मेघ' नामक कविता में अज्ञेय ने उक्त मान्यता के आलोक में एक बिम्ब बनाया है। देखिए–

"घिर गया घन, उमड़ आए मेघ काले,
भूमि के मम्पित उरोजों पर झुका सा
छा गया इन्द्र का नील वक्ष
बाध्य देख,
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल

बद्ध

वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य की निर्लज्ज नंगी और समर्पित।"

उक्त अवतरण में कवि ने पर्वत पर होने वाली वर्षा और रतिक्रिया का एक समान रूप बिम्बित किया है। सामान्य रूप से, प्रयोगवादी कविता के अन्तर्गत भोग और वासना को ही प्रमुखता मिली है।

प्रयोगवादी कवियों ने श्रृंगार को जिस रूप में प्रकट किया है, उसको देखकर यह कहना पड़ता है कि उन्होंने इसको प्रकृत रूप में ही ग्रहण किया है। इन रचनाकारों ने प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से अपनी कुण्ठित और दमित संवेदनाओं को शब्दाकार दिया है।

कुण्ठा और निराशा

डॉ. शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि 'निराशा, कुण्ठा और घुटन का व्यापक प्रदर्शन प्रयोगवादी काव्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिसका स्रोत भी उसके निर्माताओं की एकान्त व्यक्तिवादिता, आत्मलीनता एवं सामाजिक विषमताओं से एकाकी ही संघर्ष करने से प्राप्त असफलताओं में अन्तर्निहित है तथा जो बहुत कम अनुभूत और अधिकतर बनाई हुई है।

मुक्तिबोध, अज्ञेय, दुष्यंत कुमार आदि अनेक प्रयोगवादी कवियों ने अपनी रचनाओं में इन रूपों को चित्रित किया है। भारतभूषण अग्रवाल निराशा का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि–

"न देखो नयन कोरों से
गिरा दो पलक का परदा
कि मूँदों कान
हो सुनमान
दरवाजा करो सब बन्द
सपनों की अटारी के
कि बाहर गरजता हुआ तूफान आता है।"

संत्रास, दु:ख, कुण्ठा, निराशा, जुगुप्सा आदि से सारे प्रयोगवादी कवि अभिभूत प्रतीत होते हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं लेना चाहिए कि इन कवियों ने आशा, आह्लाद, आस्था आदि उज्ज्वल भावों का निरूपण किया

ही नहीं है। वस्तुतः संत्रास, कुण्ठा, अनास्था की ही कुक्षि से आशा, आह्लाद और आस्था का जन्म होता है।

प्रकृति चित्रण

छायावादी कवि ने प्रकृति को जिस बहुरंगी आभा के साथ प्रस्तुत किया है, वह अत्यंत उद्भूत है। प्रयोगवादी कवि में वैसा रूप नहीं दिखाई पड़ता है जैसा छायावादी कविता में है। इस कविता में कवि मनुष्य के जीवन की विसंगतिपूर्ण स्थिति को शब्दों में प्रकट करने में सचेत और संलग्न है। प्रयोगवादी कवियों में अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि की रचनाओं में प्रकृति का सुंदर और हृदयाकर्षी रूप प्रतीत होते हैं।

प्रकृति के विविध रूप हैं। कहीं पर उसका स्वतंत्र (आलम्बनगत) रूप अपनी सहजता के कारण आकर्षित करता है और कहीं उद्दीपनगत रूप मन को चंचल बनाकर आनन्दित-पीड़ित करता है। अज्ञेय की 'अरी ओ करुणा प्रभामय' तथा 'ऋतुराज' में प्रकृति का आलम्बनगत तथा 'बावरा अहेरी' की कुछ कविताओं में प्रकृति का उद्दीपनगत रूप खींचा गया है।

"यह झकझक रात
चाँदनी उजली कि सुई में पिरोलो ताग
चाँदनी को दिन समझकर बोलते हैं काग
हो रही ताजी सफेदी नर्म चूने से
पुत रहे हैं द्वार
चाँद पूरा साथ"

भवानी प्रसाद मिश्र प्रकृति के अनन्य प्रेमी हैं। 'गीत फरोश' नामक उनके काव्य संग्रह में प्रकृति बड़े सरल और आत्मीय रूप में स्वयं आकर विराजमान है–

"सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डुबे हुए से
ऊंघते अनमने जंगल।
झाड़ ऊंचे और नीचे
चुप खड़े हैं और आँख मींचे।
घास चुप है, कास चुप है
मूक शाल, पलाश चुप है

बन सके तो धँसों इनमें
सतपुड़ा के घने जंगल
ऊँघते अनमने जंगल।"

आंचलिकता

प्रयोगवादी कविता में अंचल प्रेम की भी छवि छायी हुई है। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की कई रचनाओं में अंचल विशेष की जीवंत चेतना की ध्वनि सुनी जा सकती है। 'वैशाख की आँधी' (अज्ञेय), 'सावन का गीत' और 'झूले का गीत' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'मंगल वर्षा' (भवानीप्रसाद मिश्र), लेण्डस्केप (गिरिजाकुमार माथुर) आदि कविताओं में आंचलिक परिवेश का सचेत समाहरण प्रकट हुआ है।

भदेस या नग्नता

गर्हित, घृणित और अश्लील शब्द चित्रों को भदेस कहा जाता है। प्रयोगवादी कवियों ने भदेस दृश्यों का भी आयोजन अपने काव्य में किया है। इस योजना से एक और तो कवि की दमित भावनाओं की अभिव्यंजना होती है और दूसरी और उनका नवीनता के प्रति आग्रहवादी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत होता है। सामान्य रूप से ये चित्रण काव्य सौन्दर्य के सम्वर्धन में सहायक नहीं हैं, लेकिन कुछ आलोचक इसे भी सौन्दर्याभिव्यक्ति का शक्तिशाली उपादान स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से, लक्ष्मीकांत वर्मा का दृष्टिकोण है 'विरूपता अश्लीलता नहीं है। असुंदर में बदसूरती नहीं है परिवेश खोखला नहीं है। इन सबका सौंदर्य पक्ष में महत्व है। ये सब सौन्दर्य को सम्पूर्ण बनाते हैं। उनके आयामों को विकसित करते हैं, यह वर्मा का अतिवादी दृष्टिकोण कहा जाता है। यदि असुंदर को भी सुंदर मान लिया जाएगा फिर असुंदर किसे कहा जाएगा।

प्रयोगवादी कविता में भदेस का निरूपण कवियों ने निस्संकोच भाव से किया है। अज्ञेय जैसा सुसंस्कृत और बहुपठ रचनाकार भी इसके चित्रण का व्यामोह संवरित नहीं कर पाया–

"निकटतर घंसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृक्ष में
तीन टांगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य मन गदहा।"

भाषा शैली

प्रयोगवादी कवियों ने भावपक्ष में जिस प्रकार से वैविध्यपूर्ण प्रयोग किए हैं, वैसे ही वे शैल्पिक क्षेत्र में भी नवीनता के पक्ष लेने वाले रहे हैं।

काव्य भाषा

प्रयोगवादी कवियों ने भाषा को भावाभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। शब्द चयन में वे अत्यंत उदार हैं। जीवन और समाज को बिम्बित करने में जो स्पष्ट हो वही भाषा और वे ही शब्द उन्हें ग्राह्य हैं। हरिनारायण व्यास भाषा के विषय में लिखा है। भाषा जीवन और समाज का एक प्रबल शास्त्र है, किन्तु उसे जीवन से अलग होकर नहीं जीवन में ही रहना है। यदि कविता की भाषा दुर्बोध रही तो उसका कर्म अर्थात् लड़ने में मनुष्य का सहायक होना अधूरा ही रह जाता है। पुरानी मान्यताओं, पुराने शब्दों, पुरानी कहावतों को नए अर्थ से सुसज्जित करके कविता में प्रयोग करने से पाठक की अनुभूतियों को महसूस करने में सहायता मिलती है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रयोगवादी कवि भाषा में सुस्पष्टता, सहजता और सुबोधता के समर्थ रहे हैं। इसीलिए उन्होंने अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी के तत्सम तथा ग्रामीण बोलचाल के शब्दों का निस्संकोच व्यवहार किया है। प्रयोगवादी कवियों की भाषा भावानुकूल है। भावानुरूप शब्दों का व्यवहार करके उन्होंने अपनी अपूर्व क्षमता का परिचय किया है। उनके ऐसे शब्द बिम्बात्मकता तथा भाव सम्वर्धन में विशेष सहयोगी सिद्ध हुए हैं।

व्यंग्यात्मकता

व्यंग्यात्मकता प्रयोगवादी काव्यभाषा की एक विशेष प्रवृत्ति है। इसके जन्म के मूल उत्स पर प्रकाश डालते हुए मदन वात्स्यायन ने लिखा है कि 'जहां दारिद्रय की दवा दया नहीं, पंचवर्षीय योजना है, वहां कवि की प्रतिक्रिया व्यंग्यात्मक हो सकती है।' प्रयोगशील कवियों में अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल आदि अच्छे व्यंग्यकार माने जाते हैं। 'साँप' के माध्यम से आज के विषैले शहरीपन पर व्यंग्य करते हुए अज्ञेय लिखते हैं कि–

"सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे
नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया

एक बात पूछूँ! उत्तर दोगे
फिर कैसे सीखा डसना
विष कहाँ से पाया।"

छंदयोजना

प्रयोगवादी कवियों ने प्रगतिवादी कवियों की ही भांति छंद के रूढ़ बन्धनों को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने मुक्त छंद में काव्यरचना की है। गिरिजाकुमार माथुर इस विषय में लिखते हैं कि 'कविता में मुक्त छंद ही पसन्द करता हूँ। मुक्त छंद में अधिकतर मैंने विरामान्त (एण्ड स्टाफ) पंक्तियाँ नहीं रखीं, धारावाही ही रखी हैं। आगत पंक्ति के आरम्भ में विगत पंक्ति की ध्वनि सम संगीत उत्पन्न करने के लिए वर्तमान रहने दी है। इसी कारण मैं मुक्त छंद में संगीत प्रधान गीत सम्भव कर सका हूँ जिन्हें गाते समय तुक की आवश्यकता प्रकट नहीं होती है।

प्रयोगवादी काव्यधारा के कवियों ने नवीन छंदों के व्यवहार के साथ अंग्रेज़ी के कवियों के प्रमुख छंदों (लिरिक, एलेजी, सोनेट, ओड आदि) और उर्दू के ग़ज़ल एवं रुबाई से भी प्रभाव ग्रहण करके काव्य रचनाएँ रची हैं। प्रयोगवादी कवियों ने लोकधुनों में भी छंद रचनाएँ की हैं। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि छंद और लय की दृष्टि से भी प्रयोगशील कविता अत्यंत सम्पन्न है।

बिम्ब योजना

काव्य की सम्प्रेषणीयता और सजीवता के लिए आचार्यों ने बिम्ब योजना को आवश्यक माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो यहां तक कहा कि बिना बिम्ब ग्रहण के अर्थ ग्रहण हो ही नहीं सकता है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल का यह कथन बहुत कुछ सही है। प्रयोगवादी कवियों ने बिलकुल नवीन और विविध बिम्बों का प्रयोग किया है। प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं में प्राकृतिक बिम्ब, पौराणिक बिम्ब, कलात्मक बिम्ब, दृश्यात्मक बिम्ब, सान्द्र बिम्ब आदि दिखाई पड़ते हैं। कई बिम्ब योजना दृष्टव्य है।

अज्ञेय दृश्य बिम्ब प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि–

"उठी एक किरण,
धायी,
क्षितिज को नाम गयी,
सुख की स्मित,

कसक भरी,
निर्धन की नैन कोरों में काँप गयी,
बच्चे ने किलक भरी,
माँ की नस-नस में वह व्याप गयी"

प्रयोगवादी कवि बिम्बों के विधान में बड़े निष्णात हैं। वे बड़ी सफलता के साथ स्पर्श, रंग, स्वाद, श्रवण, स्मृति आदि गुणों के आधार पर भी अत्यंत सारगर्भित और सान्द्र बिम्ब की रचना करते हैं।

प्रतीक योजना

प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है 'चिह्न'। जो वस्तु हमारे सामने नहीं है उसको प्रत्यक्ष करना। काव्य के अंतर्गत सम्प्रेषणीयता हेतु प्रतीकों का अत्यधिक महत्व है। प्रयोगवादी कवियों ने व्यापक धरातल पर प्रतीकों की नियोजना अपने साहित्य के अंतर्गत की है। प्रमुख रूप से प्रयोगवादी रचना कलात्मक, प्राकृतिक, पौराणिक, वैज्ञानिक और यौन प्रतीकों का व्यवहार किया गया है। कलात्मक प्रतीक, प्रतीकों के कुछ उदाहरण देखें–

"हम सबके दामन पर दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में
टूटी तलवारों की मूठ।"

युग की राजनीतिक और वैज्ञानिक प्रगति ने प्रयोगवादी कवियों को बहुत प्रभावित किया है। इसीलिए उनकी कविता में वैज्ञानिक प्रतीकों का उपयोग दिखता है। गिरिजाकुमार माथुर की 'रेडियम की छाया', भारतभूषण अग्रवाल की 'विलायती स्पंज' आदि कविताएँ इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अज्ञेय की सोन मछली जीवन की जिजीविषा का बनकर प्रकट होता है–

"वह उजली मछली है
भेद गयी जो मेरी
बहुत-बहुत पहचानी
बहुत-बहुत अपनी यह
बहुत पुरानी छाप।"

प्रयोगवादी कविता के विषय में डॉ. नगेन्द्र का कथन उद्धरणीय है। एक गहन बौद्धिकता इन कवियों पर शीशे की पर्त की भांति जमती जाती है। छायावाद

के रंगीन कल्पना वैभव और सूक्ष्म सरल भावना चिन्तन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्त्व का बाझीलापन है। ये कविताएँ अनिवार्य रूप से ही नहीं, सिद्धान्त रूप से भी कठिन हैं।

प्रयोगवादी कविता जीवनानुभूत कविता है, सीधे मिट्टी और आदमी की गहरी संवेदना से संलिप्त है। वह आदमी की सम्पूर्ण चेतना को प्रकृत रूप में शब्द रूप में प्रकट करती है। डॉ. रमेशचन्द्र शर्मा ने प्रयोगवादी कविता के अस्तित्त्व और प्रदेय के संदर्भ में बिलकुल उचित ही लिखा है कि 'यह कहना सर्वथा असंगत है कि प्रयोगवाद ने हिन्दी साहित्य को कुछ प्रदान ही नहीं किया। उसने और कुछ भले ही न दिया हो, परन्तु सड़ी-गली परम्पराओं और जीवन मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह की भावना अवश्य दी। साथ ही भाषा और शैली के नए-नए प्रयोग करने की प्रेरणा प्रदान कर भाषा को और अधिक सशक्त और प्रांजल बनाया।'

10

नई कविता धारा एवं हिन्दी साहित्य

नयी कविता हिन्दी साहित्य में सन् 1951 के बाद की उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प-विधान का अन्वेषण किया गया। यह प्रयोगवाद के बाद विकसित हुई हिन्दी कविता की नवीन धारा है। नयी कविता अपनी वस्तु-छवि और रूप-छवि दोनों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट है।

नयी कविता-आंदोलन का आरंभ इलाहाबाद की साहित्यिक संस्था परिमल के कवि लेखकों- जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी और विजयदेव नारायण साही के संपादन में 1954 में प्रकाशित नयी कविता (पत्रिका) से माना जाता है। इससे पहले अज्ञेय के संपादन में प्रकाशित काव्य-संग्रह 'दूसरा सप्तक' की भूमिका तथा उसमें शामिल कुछ कवियों के वक्तव्यों में अपनी कवितओं के लिये 'नयी कविता' शब्द को स्वीकार किया गया था।

नई कविता में जीवन का पूर्ण स्वीकार करके उसे भोगने की लालसा है। जीवन की एक-एक अनुभूतियों को, व्यथा को, सुख को, सत्य मानकर जीवन को सघन रूप से स्वीकार करना क्षणों को सत्य मानना है।

नई कविता ने जीवन को न तो एकांगी रूप में देखा न केवल महत् रूप में, उसने जीवन को जीवन के रूप में देखा। इसमें कोई सीमा निर्धारित नहीं की। जैसे- दु:ख सबको माँजता है और, चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना न जाने,

किन्तु-जिसको माँजता है, उन्हें यह सीख देता है कि, सबको मुक्त रखें। (अज्ञेय)

नई कविता में दो तत्त्व प्रमुख हैं- अनुभूति की सच्चाई और बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि। वह अनुभूति क्षण की हो या एक समूचे काल की, किसी सामान्य व्यक्ति की हो या विशिष्ट पुरुष की, आशा की हो या निराशा की, अपनी सच्चाई में कविता के लिए और जीवन के लिए भी अमूल्य है। नई कविता में बुद्धिवाद नवीन यथार्थवादी दृष्टि के रूप में भी है और नवीन जीवन-चेतना की पहचान के रूप में भी। यही कारण है कि तटस्थ प्रयोगशीलता नई कविता के कथ्य और शैली-दोनों की विशेषता है। नया कवि अपने कथ्य के प्रति तटस्थ वृत्ति रखता है, क्योंकि उसका प्रयत्न वादों से मुक्त रहने का रहता है। इस विशेषता के कारण नई कविता में कथ्यों की कोई एक परिधि नहीं है। इसमें तो कथ्य से कथ्य की नई परतें उघड़ती आती हैं। कभी-कभी वह अपने ही कथनों का खण्डन भी कर देता है- ईमानदारी के कारण। नया कवि डूबकर भोगता है, किन्तु भोगते हुए डूब नहीं जाता।

नई कविता जीवन के एक-एक क्षण को सत्य मानती है और उस सत्य को पूरी हार्दिकता और पूरी चेतना से भोगने का समर्थन करती है। अनुभूति की सच्चाई, जितना वह ले पाता है, उतना ही उसके काव्य के लिए सत्य है। नई कविता अनुभूतिपूर्ण गहरे क्षणों, प्रसंगों, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आंतरिक मार्मिकता के साथ पकड़ लेना चाहती है। इस प्रकार जीवन के सामान्य से सामान्य दीखनेवाले व्यापार या प्रसंग नई कविता में नया अर्थ पा जाते हैं। नई कविता में क्षणों की अनुभूतियों को लेकर बहुत-सी मर्मस्पर्शी कविताएँ लिखी गईं हैं। जो आकार में छोटी होती हैं, किन्तु प्रभाव में अत्यंत तीव्र। नई कविता परंपरा को नहीं मानती। इन कवियों ने परंपरावादी जड़ता का विरोध किया है। प्रगतिशील कवियों ने परंपरा की जड़ता का विरोध इसलिए किया है कि वह लोगों को शोषण का शिकार बनाती है और दुनिया के मजदूरों तथा दलितों को एक झंडे़ के नीचे एकत्र होने में बाधा डालती है। नया कवि उसका विरोध इसलिए करता है कि उसके कारण मानव-विवेक कुंठित हो जाता है।

नई कविता सामाजिक यथार्थ तथा उसमें व्यक्ति की भूमिका को परखने का प्रयास करती है। इसके कारण ही नई कविता का सामाजिक यथार्थ से गहरा संबंध है। परंतु नई कविता की यथार्थवादी दृष्टि काल्पनिक या आदर्शवादी मानववाद से संतृष्ट न होकर जीवन का मूल्य, उसका सौंदर्य, उसका प्रकाश

जीवन में ही खोजती है। नई कविता द्विवेदी कालीन कविता, छायावाद या प्रगतिवाद की तरह अपने बने-बनाये मूल्यवादी नुस्खे पेश नहीं करती, बल्कि वह तो उसे जीवन की सच्ची व्यथा के भीतर पाना चाहती है। इसलिए नई कविता में व्यंग्य के रूप में कहीं पुराने मूल्यों की अस्वीकृति है, तो कहीं दर्द की सच्चाई के भीतर से उगते हुए नए मूल्यों की संभावना के प्रति आस्था। नई कविता ने धर्म, दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है। नई कविता का स्वर अपने परिवेश की जीवनानुभूति से फूटा है।

नई कविता में शहरी जीवन और ग्रामीण-जीवन-दोनों परिवेशों को लेकर लिखनेवाले कवि हैं। अज्ञेय ने दोनों पर लिखा है। जबकि बालकृष्ण राव, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, कुँवरनारायण सिंह, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विजयदेवनारायण साही, रघुवीर सहाय आदि कवि की संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ शहरी परिवेश की हैं तो दूसरी ओर भवानीप्रसाद मिश्र, केदारनाथ सिंह, शंभुनाथ सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ऐसे कवि हैं जो मूलत: गाँव की अनुभूतियाँ और संवेदना से जुड़े हैं। इनके अतिरिक्त उसमें जहाँ घुटन, व्यर्थता, ऊब, पराजय, हीन-भाव, आक्रोश हैं, वहीं आत्मपीड़न परक भावनाएँ भी हैं। नई कविता का परिवेश अपने यहाँ का जीवन है। किन्तु उस पर आक्षेप है कि उसमें अतिरिक्त अनास्था, निराशा, व्यक्तिवादी कुंठा और मरणधर्मिता है जो पश्चिम की नकल से पैदा हुई है।

नई कविता में पीड़ा और निराशा को कहीं-कहीं जीवन का एक पक्ष न मानकर समग्र जीवन-सत्य मान लिया गया है। वहाँ पीड़ा जीवन की सर्जनात्मक शक्ति न बनकर उसे गतिहीन करनेवाली बाधा बन गई है। लोक-संपुक्ति नई कविता की एक खास विशेषता है। वह सहज लोक-जीवन के करीब पहुँचने का प्रयत्न कर रही है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं की समीक्षा करते हुए प्रोफेसर महावीर सरन जैन का कथन है कि 'हिन्दी की नई कविता पर सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि उसमें अतिरिक्त अनास्था, निराशा, विशाद, हताशा, कुंठा और मरणधर्मिता है। उसको पढ़ने के बाद जीने की ललक समाप्त हो जाती है, व्यक्ति हतोत्साहित हो जाता है, मन निराशावादी और मरणासन्न हो जाता है। यह कि नई कविता ने पीड़ा, वेदना, शोक और निराशा को ही जीवन का सत्य मान लिया है।

नई कविता भारत की जमीन से प्रेरणा प्राप्त नहीं करती। इसके विपरीत यह पश्चिम की नकल से पैदा हुई है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएँ इन सारे

आरोपों को ध्वस्त कर देती हैं। मिश्र जी गाँधीवादी है। गाँधी की देश-भक्ति मंजिल नहीं है। गाँधी जी की देश-भक्ति विश्व के जीव मात्र के प्रति प्रेम और उसकी सेवा करने के लिए उनकी जीवन यात्र का एक पड़ाव है। उनके विचार में कहीं भी लेश मात्र भी निराशा का भाव नहीं है। उसमें आशा, विश्वास और आस्था की ज्योति आलोकित है। इसी आलोक के कारण गाँधी जी ने दक्षिण-अफ्रीका और भारत में जो जन-आन्दोलन चलाए उन्होंने सम्पूर्ण समाज में नई जागृति, नई चेतना और नया संकल्प भर दिया। उनके जीवन दर्शन से विशाद, निराशा और मरण-धर्मिता नहीं अपितु इसके सर्वथा विपरीत नई आशा, नई आस्था और नई उमंग पैदा होती है। उससे सत्य, अहिंसा एवं प्रेम की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। (देखें-प्रोफेसर महावीर सरन जैन– गाँधी दर्शन की प्रासंगिकता)। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएँ इसी कारण समाज में जो विपन्न हैं, लाचार हैं, थके हुए हैं, धराशायी हैं उन सबको सहारा देने के लिए प्रेरित करती हैं, उनको उठाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं'।

विशेषताएं

आस्था

नई कविताओं की प्रमुख विशेषता जीवन के प्रति आस्था है। नई कविता के कवियों में यह आस्था प्रायः सभी में परिलक्षित होती है। आधुनिक क्षणिक एवं लघु मानवतावादी दृष्टि जीवन-मूल्यों के प्रति सकारात्मक है। नई कविता में जीवन को पूर्ण रूपेण स्वीकार करके जीवन भली-भांति भोगने की प्रबल इच्छा विद्यमान है। क्षण की सत्यता का तात्पर्य यह है कि जीवन की प्रत्येक अनुभूति, प्रत्येक व्यथा, प्रत्येक सुख को सत्य मानकर जीवन को सघन रूप से स्वीकार किया जाए।

लघुमानव

नई कविता में लघु मानवत्व के तथ्य को प्रस्तुत किया गया है उसे भी जीवन की संपूर्णता के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। लघु मानव का अभिप्राय उस सामान्य मनुष्य से है जो अपनी संपूर्ण संवेदना, क्षुधा-तृष्णा कुंठा-संत्रास तथा मानसिक ताप को लिए दिए सदैव उपेक्षित रहा है। सामान्य मनुष्य से अभिप्राय यदि मनुष्य की लघुता का अन्वेषण कर वास्तविक सत्य के रूप में उसकी

प्रतिष्ठा करने से है तो निश्चय ही यह अतिवादी, प्रतिक्रियावादी और असत्य जीवन अवधारणा है। स्वस्थ नई कविता ने कभी भी इस तथ्य को नहीं स्वीकारा है।

नई कविता ने न तो जीवन को एकांगिता में जांचा है न मात्र महान रूप में अपितु किसी भी वर्ग विशेष से संबंधित, वैयक्तिक या सामाजिक जीवन को जीवन के रूप में ही देखा है। मनुष्य किसी वर्गीय चेतना, सिद्धांत अथवा आदर्श के बल पर गतिमान होकर यहां तक नहीं आया है।

वादमोह

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वाद विशेष के मोह में आकर नई कविता का सृजन नहीं किया है। नयी कविता न कोई वाद है न किसी वाद के अंतर्गत आती है क्योंकि एक कालावधि होती है। वाद अपने कथ्य एवं दृष्टिकोण में बंधा हुआ तथा सीमित होता है। नयी कविता की ऐसी कोई समयावहि नहीं होती।

वैयक्तिकता

नयी कविता में एक विशिष्ट प्रकार की वैयक्तिकता पायी मिलती है जिसका स्वाभाविक एवं मर्यादित सामाजिकता से कोई सैद्धान्तिक या व्यावहारिक विरोध नहीं था। वह न तो व्यक्ति निरपेक्ष सामूहिकता थी, न समाज-निरपेक्ष अहंवादिता। कवि अधिकारात: एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में ही अपनी रचनाओं में प्रकट हुए। एक प्राकृतिक दृश्य के प्रति कवि की प्रतिक्रिया दर्शनीय है-

"दिन बीते कभी इस शाख पर,
किसी कोयल को कूकते सुना था,
बार-बार कानों में कही कुहू, गूँजती हुई पाती हूँ।"

नई कविता में कुछ ऐसी भी कविताएं मिलती हैं, जहां कवि प्रयोगवादियों की तरह परिवेश-निरपेक्ष होकर अपनी आन्तरिक मन:स्थिति को प्रकट करते हैं। कुंवरनारायण की 'गहरा स्वप्न' नामक रचना उदाहरण-स्वरूप ली जा सकती है, जिसमें कवि ने 'भग्नावशेषों की दुर्व्यवस्था छायाएँ', 'उलझी हुई ईर्ष्यालु लपटें', आदि जीवन की अनेक पर्तों को खोलकर अपने जीवन-सत्य को सपने में देखा है।

दूसरी ओर नई कविता में उभरती हुई सामाजिक चेतना भी द्रष्टव्य है क्योंकि ऐसे भी नये-नये कवि बने जो मानते थे कि "समाज के प्रत्येक सदस्य की छोटी सी चेतन क्रिया भी किसी न किसी अंश में सामाजिक होती है। फिर कविता तो समाज के सबसे अधिक संवेदनशील व्यक्ति की चेतन क्रिया है। अतः उसकी सामाजिकता असंदिग्ध है।" कवि कथन उद्धारणीय है–

"मेरी प्रतिभा यदि कल्याणी, तो दर्द हरे,
सुख सौख्य भरे
यह नहीं कि अपने तन-मन के निजी
व्यक्तिगत
दुःखों दर्दों में जिये-मरे!"

सामाजिक कल्याण करने में असमर्थ होने वाला कवि-कार्य करना नहीं चाहता।

"अगर नहीं है मेरे स्वरों में तुम्हारा स्वर
तो– पछाड़ खाये बादलों की तरह टूट
जाने दो।"

यद्यपि नए कवि वैयक्तिक अनुभूतियों को ही ज्यादातर कविताबद्ध करते रहे, तथापि उसमें उभरती हुई सामाजिक चेतना लक्षित हुए बिना नहीं रही।

मानव-मूल्यों का विघटन

जिन नैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक मूल्यों को शाश्वत मानकर मानव-समाज उनके सहारे जीवन में शांति और सुख प्राप्त करने के लिए युगों-युगों से कोशिश में लगा रहा है, उनको प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों ने झूठा, खोखला, अस्थायी, पंगु और अविश्वसनीय ठहराया। सर्वत्र बढ़ती हुई व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना, बेईमानी, चोर-बाजारी, घूसखोरी आदि ने कई युगों से समादृत मानव-मूल्यों के सम्मुख भारी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिये। ईश्वर के अस्तित्त्व पर विज्ञान ने अविस्मरणीय प्रहार किया। मार्क्सवादी दर्शन में पहले-पहल आकर्षण देखा गया पर वह भी युगीन बुद्धिजीवियों की अत्यधिक सचेत और अतितार्किक कसौटी पर खरा उतर नहीं सका। इस विघटित अवस्था का सही-सही चित्रण नई कविता में बहुतायत से हुआ।

आगे की पंक्तियों में कवि इस मूल्यगत शून्यावस्था के कारण परम्परा के विश्वासों के प्रति विद्रोही हो उठता है–

"आओ, हम अतीत को भूलें, जिसके यक्ष-
यक्षिणी हमकों
प्रिय लगते थे -क्योंकि वे नहीं रहे।"

इस प्रकार मूल्यों की दृष्टि से विघटित दुनिया को कुँवरनारायण इस प्रकार देखते हैं–

"पागल से लुटे-लुटे, जीवन से छुटे-छुटे
ऊपर से सटे-सटे
अन्दर से हटे-हटे-
कुछ ऐसी भी दुनिया जानी जाती है।"

विघटित मूल्यों पर भी विश्वास रखने की भयानक स्थिति को देख कवि पूछ उठता है–

"कितना भयप्रद है, प्रभु, इन सबका सच होना।"

इस प्रकार विघटित मूल्यों का स्वर नयी कविता में मुखर सुनायी पड़ता है।

खंडित व्यक्तित्त्व

ठीक ही है कि कवि का व्यक्तित्त्व नई कविता में उभर आता है। लेकिन उपर्युक्त मूल्यों का विघटन और तज्जन्य सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक अव्यवस्था के अनिवार्य परिणामस्वरूप जो कुछ काव्य में उभर आता है, वह उसका खंडित, त्रासद एवं पंगु व्यक्तित्त्व ही है। जो कवि बेकार रहता है, उस पर समाज, परिवार, मित्र सभी टूट पड़ते हैं और जो नौकरी पर है वह यंत्र और नौकरशाही का आज्ञाकारी दास बनकर उन दोनों के बीच पिसता जाता है। किन्तु उसकी बौद्धिक चेतना भौतिक जीवन के दब जाने से नहीं दबती।

इसके अतिरिक्त, आर्थिक दृष्टि से अधिकांश नये कवि निम्न-मध्यवर्ग के थे उनका भी समाज में दुहरा व्यक्तित्त्व दिखा। एक दिखावा, शान-शौकत और भौतिक दृष्टि से सम्मानित बनने के सफल-असफल प्रयासों से युक्त नुमाइशी व्यक्तित्त्व, दूसरा परिवार-हीन-आर्थिक स्थिति में पिसने वाला वास्तविक व्यक्तित्त्व। इन विरोधी तत्त्वों के मध्य पिस-पिसकर उसका व्यक्तित्त्व खंडित हो गया जिसकी अभिव्यक्ति हम नयी कविता में बहुतायत से पाते हैं। अविराम संघर्ष के परिणामस्वरूप अपने थके-हारे घायल व्यक्तित्त्व का चित्रण कुँवरनारायण ने भारतीय चक्रव्यूह ग्रस्त अभिमन्यु से रूपक बाँधकर प्रस्तुत किया–

"मेरे हाथ में टूटा हुआ पहिया- बदन पर टूटा हुआ कवच,
सारी देह क्षत-विक्षत-
में बलिदान उस संघर्ष में, कटु व्यंग्य हूँ
उस तर्क पर
जो जिन्दगी के नाम पर हारा गया।"

एक दूसरा खंडित व्यक्तित्त्व देखिए–

"मेरे बाँझ दिन की साँझ, पंख थका गयी
बैठा हूँ मैं दुबक कर घोंसले में"

किन्तु इस खंडित व्यक्तित्त्व की विशेषता यह है कि कवि इस अवस्था को शाश्वत मानकर और क्षयी मनोवृत्तियों को ग्रहणकर अपने को उसके अनुरूप बनाने के बजाय उससे ऊपर उठकर अपने व्यक्तित्त्व की खोई हुई पूर्णता एवं संतुलित अवस्था को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील बना रहा।

नूतन-मानव की कल्पना

नूतन मानव कवियों द्वारा समर्थित नूतन मूल्य-मान्यताओं का पुतला है। जीवन को उसकी व्यापक संपूर्णता एवं समग्रता में चित्रित न करके उसकी जगह खण्ड चित्रों को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप इस नव-मानव की भी समग्र एवं चतुर्मुखी कल्पना हमें नयी कविता में नहीं मिलती। विभिन्न कवियों ने अपनी-अपनी विभिन्न रचनाओं में इस नव-मानव के 'गुण विशेष' और उसको अनुशासित करने वाले 'मूल्य विशेष' की ओर अवश्य संकेत किया जिनको संग्रहित करने पर नव-मानव की स्पष्ट मूर्ति पाठक के समक्ष आ सकती है।

यह नव मानव निरंकुश स्वतंत्रता का अचूक प्रेमी है जिसको पाने या बनाये रखने के संग्राम में पराजित होने की अपेक्षा वीरों की मृत्यु मरना ही उसे स्वीकार है। इतना स्वतंत्रता प्रेमी होते हुए भी वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति सदा जागरुक है, क्योंकि वह इससे तथ्य से परिचित है कि 'मेरा भाग्य जुड़ा है उनसे जो मेरे हैं'। और युग जीवन की क्षयी प्रवृत्तियों एवं अनिश्चयात्मकता से वह प्रभावित अवश्य है पर उनसे ऊपर उठने का आग्रह भी उसमें है।

आशा-निराशा, आस्था-अनास्था का मिश्रित स्वर

अनास्था और निराशा को पनपाने वाली परिस्थितियों में भी अपने जीवन-दर्शन के बल पर प्रगतिवादी कविता ने आशा और आस्था को मुखर

रूप में प्रस्तुत किया है। इसकी प्रतिक्रियाजन्य अतिवादिता प्रयोगवादी कविता की विशेषता रही जहां अनुभूत या आरोपित निराशा एवं अनास्था से कवि की भावभूमि आक्रांत हो गईं।

इस विरोधाभास का कारण यह भी हो सकता है कि 'आज का कवि विभिन्न तत्त्वों से मिलकर बना है, उसने विभिन्न क्षेत्रों से प्रभाव ग्रहण किया है और वर्ण्य विषय के प्रति उसकी प्रतिक्रिया यहाँ भी विविध रूप में है।'

डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने माना कि 'नयी कविता' में 'मानव व्यक्तित्त्व को उभारने तथा उसमें आत्मविश्वास और आस्था के साथ सामाजिक दायित्व को पूरा करने के भी अंकुर विद्यमान हैं। अत: यही कहना उचित होगा कि नयी कविता में इन विरोधी प्रवृत्तियों का मिश्रित स्वर पाया जाता है। संसार की निराशामय स्थिति का चित्र देखिए–

"हर अलौकिक रूप पृथ्वी पर बिगड़ता ही रहा
एक धब्बा हर उजाले पर सदा पड़ता रहा–
आदमी हर दिव्यता के बाद भी सड़ता रहा।"

लगातार घायल होने और आशाओं पर निराशा की काली घटा घिरने के पश्चात् भी कवि अग्रसर तो होते हैं पर "किसी भी ओर से संकेत की कोई किरन भी" नहीं फूटती। 'नई कविता' में अभिव्यक्त आशा और आस्था के भी एक दो स्वर सुनिए–

"फूलेंगे फूल लाल लाल करूँगी प्रतीक्षा अभी
पौधा है वर्तमान–
कल उगूंगी मैं, आज तो कुछ भी नहीं हूँ।"

कथ्य की व्यापकता

नई कविता का विषय क्षेत्र विशाल है तथा काव्य रचना में स्वच्छंदता है। नई कविता में नवीन बोध किंतु यह नवीन बोध भारतीय संस्कृति की भांति परंपरा से अलग नहीं है। अपितु इसमें परंपरा एवं अद्यतना का पूर्व सामंजस्य है। नई कविता के अधिकांश कवियों का संबंध प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद की एक निश्चित सीमा एवं प्रवृत्ति थी जिसका इन्हें पहले ही ज्ञान था। सीमाबंधन के कारागार से मुक्त होने के लिए वे आकुल व्याकुल थे। कारागार से स्वतंत्र होकर उन्मुक्त विस्तृत काव्य जगत के प्रांगण में विचरण करने की असीम कामना थी। नई कविता ने ऐसे कवियों को सामान्य स्वच्छंद भूमि प्रदान की।

नई कविता के प्रमुख दो तत्त्व हैं–अनुभूति की सच्चाई तथा बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टिकोण। इन दोनों तत्त्वों की कोई सीमा नहीं थी अनुभूति की सत्यता का संबंध क्षणिक जीवन से भी हो सकता है। बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टिकोण किसी व्यक्ति विशेष अथवा समष्टिगत अर्थात् सामाजिक जीवन से संबंधित आशा-निराशा, सामान्य व्यक्ति-विशिष्ट व्यक्ति, प्रेम-ईर्ष्या, अनुराग-विराग आदि किसी की भी सच्चाई में कविता एवं जीवन के लिए अमूल्य है। नई कविता की बौद्धिकता नवीन यथार्थवादी दृष्टि तथा नवीन जीवन चेतना की पहचान के दोनों रूपों में दृष्टिगोचर होती है।

अनुभूति

साहित्य समाज का दर्पण है अनुभूति समाज की नहीं अपितु कवि की होती है। यह अनुभूति कभी मीरा जैसी अथवा कल्पित या क्रीत सूरदास जैसी होती है, किंतु होती कवि की है। सामाजिक अनुभूति को कवि आत्मसात कर अथवा अपनी वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यंजना कर काव्य रचित करता है।

कवि का सर्जक व्यक्तित्त्व कोई यंत्र नहीं है। वह प्रत्येक परायी अनुभूति को आत्मसात कर उसे स्वानुभूति का रूप प्रदान करने के बाद ही काव्य सृजन में सफलता प्राप्त करता है। जितना अधिक उसकी ग्रहण शक्ति होती है उतनी ही प्रबल उसकी अभिव्यंजना शक्ति होती है यही काव्य का सत्य है। समाज से लेने और समाज को देने में ही उसकी वास्तविक सच्चाई का ज्ञान होता है। इसलिए उसके व्यक्तित्त्व को संस्कार करने वाली युग-सत्यग्राही चेतना की आवश्यकता होती है। कवि का युग बोध से संस्कृत व्यक्तित्त्व अपने द्वारा सबका अवलोकन कर लेता है। क्योंकि अपने मूल वेदना में एक है और कवि का व्यक्तित्त्व दर्द की संवेदना का जागरुक भोक्ता है–

"वही परिचित दो आंखे ही
चिर माध्यम हैं
सब आंखों से सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का।"

-अज्ञेय

जीवन सत्य

नई कविता जीवन के प्रत्येक क्षण की सत्यता को स्वीकारती है तथा उसे सहृदयता एवं पूर्ण चेतना से भोगने का समर्थन करती है। क्षण एवं शाश्वत बोध

परस्पर विरोधी नहीं अपितु सहयोगी हैं। अनुभूति शून्यता तथा व्यथाहीनता इतिहास को असत्य का रूप प्रदान करती है। ऐसे इतिहास की कोई सार्थकता नहीं है। इसलिए नई कविता अनुभूतिपूर्ण गहरे क्षण प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आंतरिक मार्मिकता के साथ ग्रहण करना चाहती है। इस प्रकार जीवन में सामान्य से सामान्य दृष्टिगोचर होने वाला व्यापार या प्रसंग नई कविता में आकर नए अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। क्षणिक अनुभूतियों के संदर्भ में नई कविता में मर्मस्पर्शी एवं वैचारिक प्रेरणा प्रदायिनी अनेक कविताएं उपलब्ध हैं। ये कविताएं मात्र क्षणों, प्रसंगों या दृश्यों की लघुता का चित्रण नहीं करती अपितु संगत-असंगत बिंबों के द्वारा क्षणों की परिसीमा में उफनते हुए मानव जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमत्ता प्रदान करती है।

सत्य रूप- जीवन सत्य के दो रूप हैं–

कालजयी एवं सार्वभौम सत्य- ये सत्य प्रकृति से ही देश-काल की सीमा में प्रतिबद्ध नहीं होते हैं।

देश-काल बद्ध सत्य- कुछ जीवन सत्य किसी विशेष काल एवं स्थान के होते हैं। कविता में आकर काल एवं स्थान की सीमा लांघ जाते हैं।

परिवेश

कविता एक ऐसी संश्लिष्ट कृति है जिसमें हम परिवेशगत एवं परिवेशमुक्त सत्य को अलग-अलग नहीं कर सकते हैं क्योंकि सत्य की कोई विभाजक रेखा नहीं खिंची जा सकती है। नई कविता का स्वर अपने परिवेश की जीवनानुभूति से प्रस्फुटित हुआ है। भिन्न-भिन्न कविताओं के जीवनानुभव विभिन्न परिवेशों से संबद्ध हो सकते हैं। नई कविता में ग्रामीण एवं नागरिक दोनों अपने-अपने परिवेशानुसार काव्य सृजन करने वाले कवि हैं। अज्ञेय का अनुभव क्षेत्र अति व्यापक है, किन्तु अन्य कवियों का अनुभव क्षेत्र सीमित है।

नागरिक परिवेश- इन कवियों में, बालकृष्ण राव, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, कुंवर नारायण, विजय देव नारायण साही, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय आदि प्रमुख हैं।

ग्रामीण परिवेश- ग्रामीण संस्कार एवं संवदेनाओं से निर्मित कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, केदार नाथ सिंह, नागार्जुन, शंभूनाथ सिंह तथा केदार नाथ अग्रवाल आदि प्रमुख हैं। इसे एकांतिक अलगाव नहीं कह सकते

हैं। कवियों का संक्रमण एक परिवेश से दूसरे परिवेश में होता रहता है। परिवेश के प्रभावानुसार काव्य सृजन किया जाता है।

जैसे–मदन वात्स्यायन की यांत्रिक परिवेश की कविताएं तथा ठाकुर प्रताप सिंह की संथाली परिवेश के आर्द्र गीत।

परिवेश का वैषम्य अज्ञेय की कविताओं में दृष्टिगोचर होता है। उनकी कविताओं में मध्यवर्गीय जीवन में धुली कुंठा-निराशा, औद्योगिक नगरों की असंगतिपूर्ण सभ्यता का तीव्रता से ग्रहण मिलता है। दूसरी ओर स्वीकार ग्रामीण जीवन-छवि तथा विषमता या व्यथा को व्यंजित करते हैं अथवा प्रकृति एवं ग्राम जीवन के बिंबों के आधार अनुभूति या सौंदर्य का स्वर मुखरित करते हैं।

नई कविता का परिवेश भारतीय जीवन है, किंतु कुछ आलोचकों की मान्यता है कि नई कविता पर राष्ट्रीय परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करने के परिणामस्वरूप अतिरिक्त अनास्था, निराशा, मरणधर्मिता तथा वैयक्तिक कुंठा आदि विशेषताओं का पश्चिम की नकल के आधार पर चित्रण किया गया है।

क्षण-शाश्वत

जीवन के प्रत्येक क्षण को विश्वास के साथ भोगना, उसकी पीड़ा और निराशा को जीवन सत्य के रूप में स्वीकार करके सच्चे रूप में भोगना ही जीवन का सच्चा उपभोग है। वास्तव में यही जीवन का विश्वास है। किंतु जीवन का मूल्य सत्य मात्र पीड़ा एवं निराशा को मानकर अहोरात्रि शोक गीत गाने का उपदेश देना सामाजिक जीवन के संपूर्ण विकास के लिए कार्य करने वाली मनुष्य की जिजीविषा, प्रेम एवं उल्लास को स्वीकारता है। नई कविता में भी पीड़ा-निराशा को यंत्र-तंत्र जीवन का एक पक्ष न मानकर जहां समग्र जीवन सत्य को स्वीकारा गया है वहां पीड़ा को जीवन की सर्जनात्मक शक्ति न मानकर उसे शिथिल करने वाली बाधा बनकर आने वाली माना है। ऐसा दृष्टिकोण समाज या व्यक्ति जीवन के अभाव पक्ष को उद्घाटित करने में ही आनंदित होता है।

लोकोन्मुखता

लोकोन्मुखता नई कविता की मुख्य विशेषता है कि वह सहज लोक जीवन के सन्निकट पहुंचने के लिए प्रयत्नशील है। नई कविता ने लोक जीवन की अनुभूति, सौंदर्य बोध, प्रकृति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर स्वीकार किया है। लोक जीवन के बिंबों, प्रतीकों, शब्दों एवं उपमानों

को उन्हीं के मध्य से चुनकर उसने अपने को अत्यधिक संवदेनापूर्ण एवं सजीव बनाया है। बिंब कविता की मूल छवि है इसलिए नई कविता बिंब बहुल है।

भाषा एवं बिंब

भाषा मुक्त भाव से ऐसे शब्दों को ग्रहण करती है जो अभिजात न होकर सशक्त हैं। अपने में मिट्टी की सौंधी गंध छिपाए हुए हैं। नयी कविता जीवन के नए संदर्भों में उभरने वाली अनुभूतियों, सौंदर्य प्रतीतियों और चिंतन आयामों से संपृक्त बिंब अपनाती है। शहरी कवि विशेष रूप से नागरिक जीवन-बिंब ग्रहण करते हैं। जबकि ग्रामीण जीवन के संस्कारों से युक्त कवि ग्रामीण बिंबों का चुनाव करते हैं। व्यक्तित्त्व और सामाजिक दोनों प्रकार के बिंब नई कविता में विद्यमान हैं। कुछ बिंब नई कविता ने पुराणों एवं इतिहास से भी चुने हैं, किन्तु उन्हें संदर्भानुसार नवीन अर्थ दिया है। बिंब विधान की दृष्टि से 'अंधा युग', 'कनुप्रिया' तथा 'आत्मजयी' महत्वपूर्ण कृतियां हैं। रोमानी पदावली का प्रयोग। लोक शब्दों का चयन है। नई कविता की भाषा में खुलापन एवं ताजगी है।

शिल्पगत विशेषताएँ

नई कविता ने लोक-जीवन की अनुभूति, सौंदर्य-बोध, प्रकृत्ति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया। साथ ही साथ लोक-जीवन के बिंबों, प्रतीकों, शब्दों और उपमानों को लोक-जीवन के बीच से चुनकर उसने अपने को अत्यधिक संवेदनापूर्ण और सजीव बनाया। कविता के ऊपरी आयोजन नई कविता वहन नहीं कर सकती। वह अपनी अन्तर्लय, बिंबात्मकता, नवीन प्रतीक-योजना, नये विशेषणों के प्रयोग, नवीन उपमान में कविता के शिल्प की मान्य धारणाओं से बाकी अलग है।

नई कविता की भाषा किसी एक पद्धति में बँधकर नहीं चलती। सशक्त अभिव्यक्ति के लिए बोलचाल की भाषा का प्रयोग इसमें अधिक हुआ है। नई कविता में केवल संस्कृत शब्दों को ही आधार नहीं बनाया है, बल्कि विभिन्न भाषाओं के प्रचलित शब्दों को स्वीकार किया गया है। नए शब्द भी बना लिए गये हैं। टोये, भभके, खिंचा, सीटी, ठिठुरन, ठसकना, चिडचिड़ी, ठूँठ, विरस, सिराया, फुनगियाना-जैसे अनेक शब्द नई कविता में धड़ल्ले से प्रयुक्त हुए हैं। जिससे इसकी भाषा में एक खुलापन और ताजगी दिखाई देती है। इसकी भाषा में लोक-भाषा के तत्त्व भी समाहित हैं।

नई कविता में प्रतीकों की अधिकता है। जैसे- साँप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होंगे, नगर में बसना भी तुम्हें नहीं आया। एक बात पूँछु? उत्तर दोगे! फिर कैसे सीखा डँसना? विष कहाँ पाया? (अज्ञेय) नई कविता में बिंब भी विपुल मात्र में उपलब्ध है। नई कविता की विविध रचनाओं में शब्द, अर्थ, तकनीकी, मुक्त आसंग, दिवास्वप्न, साहचर्य, पौराणिक, प्रकृति संबंधी काव्य बिंब निर्मित्त किए गये हैं। जैसे- सामने मेरे सर्दी में बोरे को ओढकर, कोई एक अपने, हाथ पैर समेटे, काँप रहा, हिल रहा,-वह मर जायेगा। (मुक्तिबोध)

नई कविता में छंद को केवल घोर अस्वीकृति ही मिली हो- यह बात नहीं, बल्कि इस क्षेत्र में विविध प्रयोग भी किये गये हैं। नये कवियों में किसी भी माध्यम या शिल्प के प्रति न तो राग है और न विराग। गतिशीलता के प्रभाव के लिए संगीत की लय को त्यागकर नई कविता ध्वनि-परिवर्तन की ओर बढ़ती गई है। एक वर्ण्य विषय या भाव के सहारे उसका सांगोपांग विवरण प्रस्तुत करते हुए लंबी कविता या पूरी कविता लिखकर उसे काव्य-निबंध बनाने की पुरानी शैली नई कविता ने त्याग दी है। नई कविता के कवियों ने लंबी कविताएँ भी लिखी हैं। किन्तु वे पुराने प्रबंध काव्य के समानान्तर नहीं हैं। नई कविता का प्रत्येक कवि अपनी निजी विशिष्टता रखता है। नए कवियों के लिए प्रधान है सम्प्रेषण, न कि सम्प्रेषण का माध्यम। इस प्रकार हम देखते हैं कि नई कविता कथ्य और शिल्प-दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

नई कविता के प्रमुख रचनाकार

सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय

अज्ञेय का जन्म (7 मार्च 1911-1987 ई.) ग्राम कसया जनपद देवरिया में हुआ था। पिता का नाम हीरानंद था। बी.एस.सी. परीक्षा उत्तीर्ण की। अंग्रेजी, हिंदी तथा संस्कृत का स्वाध्ययन किया। अज्ञेय का जीवन यायावरी एवं क्रांतिकारी था। इसलिये ये किसी व्यवस्था में सीमित होकर नहीं रह सके। सन् 1943-1946 ई. तक सेना में सेवा की। कई बार सांस्कृतिक कार्यों हेतु अमेरिका गए। कुछ दिनों तक जोधपुर विश्वविद्यालय में कार्य किया। कवि होने के अलावा प्रख्यात कथाकार, समीक्षक एवं चिंतक-विचारक थे।

कृतित्त्व

काव्य–'आंगन के पार द्वार', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'हरी घास पर क्षण भर', 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये'।

कविताएं- 'भग्न दूत' एवं 'चिंता' नामक छायावादी कविताओं से काव्य यात्रा प्रारंभ की। 'दुख सबको मांजता है', अच्छा 'खंडित सत्य सुघर नीरंध्र मृषा से' एवं 'सांप'।

संपादन–'तारसप्तक', 'इत्यलम्'।

साहित्यिक विशेषताएं–छायावादी कविताओं से काव्य-यात्रा शुरू करने वाले अज्ञेय प्रयोगवाद एवं नई कविता के विशिष्ट कवि हैं। इस धारा के कवियों में इनका काव्य सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है। उनका स्वर अहं-समाज, प्रेम-दर्शन, आदिम

गंध–विज्ञान चेतना, यंत्र-सभ्यता-लोक परिवेश, यातना बोध-विद्रोह की ललकार, प्रकृति सौंदर्य-मानव सौंदर्य तक विस्तृत है। इस व्याप्ति में संवेदनशीलता या अनुभूति सर्वत्र साथ नहीं देती है। कहीं-कहीं कोरा बुद्धिवाद या नीरसता प्रकट होती आती है।

'तारसप्तक' की कविताओं के साथ अज्ञेय की नई कविता यात्रा का आरंभ होता है। जो बाद में 'इत्यलम्' में संग्रहित दृष्टिगोचर होती है। अज्ञेय में संवेदना के साथ सजगता एवं बुद्धिवाद की प्रधानता है। बुद्धिवाद उनकी संवेदना को नियंत्रित करता है साथ ही कभी सूक्तियों के रूप में कभी व्यंग्य के रूप में, कभी युग चिंतन और युग बोध के बिंब विधान के रूप में प्रकट होता है जो संवेदना या अनुभूति से अंतरंग भाव से जुड़ा न होने के कारण बिंब रचना के होते हुए भी बहुत दूर तक प्रभावहीन हो जाता है। अज्ञेय की कविताओं में स्वर वैविध्यता का कारण उनका बुद्धिवाद है। संवेदना एवं बुद्धिवाद की यह सहयात्रा जहां रोमानी परंपरा को तोड़कर नए सौंदर्यबोध से सम्पन्न स्वस्थ काव्य की सृष्टि करती है वहीं बुद्धिवादिता का अतिरेक शुष्क, कठिन और नव रहस्यवादी कविता को जन्म देता है। अज्ञेय की छोटी-छोटी कविताएं सौंदर्य और प्रभाव की सृष्टि के दृष्टिकोण से विशिष्ट एवं सक्षम हैं-वे चाहे व्यंग्य करती हों, चाहे कोई सौंदर्य का अनुभव जगाती हों, चाहे रूप की अभिव्यक्ति करती हों।

गिरिजा कुमार माथुर

व्यक्तित्त्व- गिरिजा कुमार माथुर का जन्म सन् 1918 ई. को मध्य प्रदेश के एक कस्बे में हुआ था। अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. तथा एल.एल.बी. परीक्षा

उत्तीर्ण कर वकालत शुरू की। कुछ समय के बाद दिल्ली सेक्रेटियेट में सेवा की। अंत में आल इंडिया रेडियो में कार्य करने लगे।

कृतित्त्व–'नाश और निर्माण', 'धूप के धान', तथा 'शिलापंख चमकीले'।

साहित्यिक विशेषताएं–माथुर में प्रयोग एवं संवेदना का सुंदर सामंजस्य है। उनका प्रयोग उनकी अनुभूतियों और संवेदनाओं के सूक्ष्म कोणों, रंगों एवं प्रभावों को व्यक्त करने की आकुलता से संबद्ध है। छंद, भाषा, बिंब विधान सभी दृष्टियों से प्रयोग किए गए हैं। इनके छंदों में लयात्मकता सर्वत्र देखी जा सकती है। उनके काव्य के दो स्वरूप हैं–

व्यक्तिगत अनुभूतियां- 'मजीर' एवं 'तारसप्तक' में उनकी वैयक्तिक अनुभूतियां दृष्टिगोचर होती हैं।

सामाजिक अनुभूतियां- 'नाश और निर्माण' तथा 'शिलापंख चमकीले' में सामाजिक जीवन की अनुभूतियां एवं यथार्थ का स्वर मुखरित हुआ है।

'तारसप्तक' में जीवन यथार्थ के नए आयाम का प्रयोग नहीं किया गया है। वे अपने परिवेश में जीवन सत्यों से अलग दृष्टिगोचर होते हैं उनसे जुड़ाव की प्रतीति नहीं होती है। संवेदना में रोमानी दृष्टिकोण है। प्रकृति की रंगमयता, उसकी उदासी, सौंदर्य-प्यास, प्रेम-प्रसंगों की स्मृतियों का दंश, सुंदर वातावरण, साथी विहीनता तथा अकेलेपन का बोध आदि इनके अनुभव एवं संवेदना के अंग हैं।

'नाश और निर्माण' में 'तारसप्तक' की कविताएं भी संकलित हैं इसके अलावा कुछ ऐसी कविताएं भी हैं जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। इनकी कविताओं में शक्ति, उल्लास एवं सामाजिक जीवन का स्पंदन है। पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के रूप में विषम परिणामों का तीव्र अनुभव तथा उनके खिलाफ समाजवादी चेतना का प्रसार है।

गजानन माधव 'मुक्ति-बोध'

व्यक्तित्त्व- इनका जन्म (सन् 1917-1964 ई.) ग्वालियर के एक कस्बे में हुआ। बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर अध्यापन कार्य करने लगे। पत्रकारिता का कार्य प्रारंभ कर दिया और पुनः अध्यापन कार्य करने लगे। ये विशिष्ट विचारक, समीक्षक तथा कथाकार थे। अपनी पूरी पीढ़ी में मुक्तिबोध का व्यक्तित्त्व विशेष महत्व रखता है।

कृतित्त्व–'ब्रह्म राक्षस' तथा 'अंधेरे में' इनकी प्रमुख कविताएं हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–इस पीढ़ी और इससे लगी हुई परवर्ती पीढ़ी के लगभग सभी महत्वपूर्ण रचनाकारों जिनमें अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह तथा धर्मवीर भारत आदि प्रमुख हैं-कवियों ने रूमानी कविता का त्याग कर नवीन प्रयोग करने का प्रयास किया किंतु रूमानी संवेदना और तत्कालीन भाषा से उनको स्वतंत्रता नहीं मिल पाई। किंतु मुक्तिबोध सिर्प+ ही ऐसे कवि हैं जिनका अनुभव जगत अति व्यापक है। उनकी प्रगतिवादी दृष्टि परिवेश बोध, सामाजिक चिंतन तथा अनुभव वैविध्य को और बलिष्ठ बनाती है। जिसके फलस्वरूप कहा जा सकता है कि बाद में जीवन की बहुविधा छवि को लेकर विकसित होने वाली नई कविता के अग्रज एवं श्रेष्ठ कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही हैं। लोक परिवेश गहन संपृक्ति तथा लोक जीवन के प्रति अटूट विश्वास एवं आस्था उनकी सबसे बड़ी शक्तियां हैं।

'अंधेरे में' एवं 'ब्रह्मराक्षस' इस दृष्टिकोण से विशेष महत्व की कविताएं हैं। उनकी अनुभूति वैयक्तिक ही नहीं है अपितु अपने परिवेश से गहनता से संबद्ध है तथा अनेक आवर्तों से आरोपित है। कवि आलोच्य दृष्टि रचनात्मक संदर्भ में लक्षित होने वाली सार्थकता-निरर्थकता को परखती चलती है।

भवानी प्रसाद मिश्र

व्यक्तित्त्व- भवानी प्रसाद मिश्र का जन्म सन् 1914 ई. में मध्य प्रदेश में हुआ। बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। 'कल्पना' पत्रिका के संपादक पद पर कार्यरत हुए। वहां से आल इंडिया रेडियो की सेवा में लग गए। अवकाश प्राप्त करने तक संपूर्ण गांधी वांग्मय के संपादक मंडल में रहे।

कृतित्त्व

कविताएं- 'कमल के फूल', 'वाणी की दीनता', 'टूटने का सुख', 'सतपुड़ा के जंगल', 'सन्नाटा', 'गीत फरोश', 'असाधारण' एवं 'स्नेह शपथ' आदि प्रमुख कविताएं हैं। जिनमें 'गीत फरोश' को विशेष ख्याति मिली।

साहित्यिक विशेषताएं–ये सहज संवेदना के कवि हैं। इनकी संवेदना कहीं अति सूक्ष्म एवं आत्मसात हैं, जैसे 'कमल के फूल', 'वाणी की दीनता' तथा 'टूटने का सुख' आदि में। कहीं अधिकर प्रत्यक्ष और परिवेश संपृक्त है, जैसे-'सतपुड़ा के जंगल', 'सन्नाटा' तथा 'गीत फरोश' आदि कविताओं में

कवि की सहजता, सघन अनुभूति तथा संयत अभिव्यक्ति के क्षणों में जहां अति रम्य काव्य की रचना करती है वहीं फॉर्मूलाबद्ध आदर्शवादिता, अनुभूति के सतहीपन तथा अभिव्यक्ति के तुकांतवादी विस्तार की अव्यवस्था में सामान्य काव्य की। 'असाधारण' एवं 'स्नेह शपथ' जैसी उनकी अनेक कविताएं सामान्य हैं। उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में लोक जीवन का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

शमशेर बहादुर सिंह

व्यक्तित्त्व- शमशेर बहादुर सिंह का जन्म 3 जनवरी सन् 1911 ई. में देहरादून में हुआ। बी.ए. की शिक्षा प्राप्त कर लेखन कार्य में रत हो गए। 'कहानी' एवं 'नया साहित्य' के संपादक मंडल में कार्य करने लगे। काफी दिनों तक बेकार भी रहे। दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली के उर्दू विभाग में कोश संबंधित कार्य भी किया।

साहित्यिक विशेषताएं–शमशेर बहादुर सिंह के संस्कार व्यक्तिवादी हैं, अनुभव रूमानी हैं, तथा विचार मार्क्सवादी हैं। इस प्रकार उनका व्यक्तित्त्व विभिन्नता में एकता स्थापित करने वाला है। उनकी अधिकांश कविताओं का विषय कुंठित प्रेम है। संवेदना एवं अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादिता के प्रतीक हैं।

मुक्त आसंग, चेतना प्रवाह, अमूर्त चित्रात्मकता तथा शब्द-संगीत आदि शमशेर बहादुर सिंह के शिल्प को सर्वथा एक नवीन रूप अवश्य प्रदान करते हैं किन्तु वे अनुभव लोक मूर्तता प्रदान करने की तुलना में उलझाव प्रदान करते हैं। अभिप्राय यह कि उनकी कविता पाठकों के लिए सहज ग्राह्य न होकर कष्ट साध्य एवं श्रम साध्य है।

धर्मवीर भारती

कृतित्त्व–'अंधा युग', 'कनुप्रिया' तथा 'सात गीत वर्ष'।

साहित्यिक विशेषताएं–वास्तविकता यह है कि धर्मवीर भारती की उपलब्धियां उनकी अंतिम कृतियों में दृष्टिगोचर होती हैं।

आरंभिक कविताएं उनकी किशोरावस्था की भावुकता से विशेष रूप से आक्रांत परिलक्षित होती हैं। भारत में आदिम गंध की तड़पन और जनजीवन की रूमानी छवि की पकड़ है। इसलिए इनकी कविताएं विशेष रूप से गीत परक

बन गईं हैं जिनमें लोक-परिवेश की मस्ती एवं उल्लास की स्थानापन्न उदासी एवं सूनापन ही अधिक प्रकट होता है।

"घाट के रस्ते उस बंसवट से
इक पीली सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा नाम है
मुझे पुकारे ताना मारे
उन्मन यह फागुन की शाम है।"

–ठंडा लोहा

भारती के काव्य की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उसका मूर्तविधान एवं पारदर्शिता जो उनके परवर्ती गंभीर एवं चिंतन से संवरे काव्यों में प्रकट होता है। 'सात गीत वर्ष' की कविताओं में कवि की रूमानी भाव प्रधानता ने यथार्थ की गहनता को ग्रहण किया है। यहां भी अनेक कविताएं प्रेम प्रधान हो गईं हैं, किन्तु प्रेम के अति सूक्ष्म संक्रांत अनुभवों को उभार प्रदान की गईं हैं। इनमें कुछ कविताएं व्यंग्य की प्रधानता लिए हुए हैं जो किसी सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनीतिक विसंगतियों पर हल्की-हल्की चोट करती प्रतीत होती हैं।

प्रबंध काव्य–नई कविता काल में कुछ प्रबंध काव्यों का भी सृजन हुआ है जिनमें मैथिलीशण गुप्त -'जय भारत' एवं 'विष्णु प्रिया', गुरुभक्त सिंह 'भक्त'-'विक्रमादित्य', मोहन लाल महतो वियोगी-'आर्यावर्त', रामधारी सिंह दिनकर-'उर्वशी', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', सियाराम शरण गुप्त-'उन्मुक्त', सुमित्रा नंदन पंत-'लोकायतन', केदार नाथ मिश्र प्रभात-'ऋतंवरा', धर्मवीर भारती-'कनुप्रिया', ठाकुर प्रसाद सिंह-'महामानव', नरेन्द्र शर्मा-'द्रौपदी' तथा उत्तर जय एवं कुंवर नारायण-'आत्मजयी' आदि उल्लेखनीय हैं।

नवगीत और नव गीतकार

पद्य काव्य की एक विद्या गीत है। समसामयिक परिवर्तनों की दृष्टि से इसे चिरंतन विद्या की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। युगीन संदर्भानुसार मानव मन के संवेग, भाव या विचार परिवेश में नए-नए रूप ग्रहण करते रहते हैं। आधुनिक व्यक्ति के सुख-दुख, राग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष आदि की संवेदना आदिम कालीन मानव संवेदना की तरह प्रत्यक्ष, सीधी और आवेगात्मक नहीं हैं क्योंकि उसमें बौद्धिक युग की अनेक जटिलताएं समाहित हो गईं हैं। इसलिए आधुनिक संवेदना

आदिकालीन, मध्ययुगीन संवेदना रूमानी गीतों की संवेदना की तरह एक लय में वेग से नहीं फूट चलती है अपितु वह एक विशिष्ट मानसिक परिवेश में अपने अनुकूल बिखरे हुए संवेगों से जुड़ती है। तात्पर्य यह है एक संवेग दूसरे से संक्रांत होता है। ये संक्रांत संवेग एक आंतरिक एकता से अनुशासित होते हैं। देखने में ये संवेग बिलकुल भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं किंतु मूलतः आंतरिक संगीत से समन्वित होते हैं। वर्तमान में यह सत्य भाव नई कविता और नवगीत दोनों में व्यक्त हो रहा है। इन संक्रांत संवेगों को शब्द देकर कवि को अनिवार्य रूप से बिंबों, प्रतीकों और लाक्षणिकता की योजना करनी पड़ती है। बिंबों और प्रतीकों के बिना संवेगों की संश्लिष्टता और सूक्ष्मता व्यंजित नहीं हो पाती है।

गीत की इन व्यावहारिक बंधनों के कारण उसकी मौलिक शक्तियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंचित इन्हीं शक्तियों के कारण बहुत से अच्छे नए कवि गीतकार भी हैं। उनके गीतों की तरलता, अनुभूति सघनता और प्रभावान्विति का प्रभाव उनकी नई कविताओं पर भी दिखता है। प्रचलित रंगमंचीय अश्लील एवं भद्दे गीतों से अलग करने के लिए इन गीतों को नवगीत कहा गया है। समसामयिक गीतकारों में प्रमुखतः अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, शंभू नाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, केदार नाथ सिंह, रवींद्र भ्रमर तथा वीरेंद्र मिश्र आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुभूति की सच्चाई, अनुभूति की अपनी-अपनी विशिष्टता, नवीन सौंदर्य बोध, आकार लघुता, नवीन बिंब-प्रतीक उपमान-योजना इनकी सामान्य विशिष्टता है। इन सभी गीतों में लोकजीवन का आनंद है। इस अर्थ में नहीं कि इन्होंने प्रचलित गीतों की भांति लोकभाषा से अपने गीतों 'दूध-बताशा', 'पनघट', 'वंशीवट', 'चुनरिया' तथा 'ओढ़निया' आदि अनेक शब्दों चुनाव किया है अपितु इसलिए कि इसमें इन्होंने लोक जीवन की वस्तु योजना का प्रयोग किया है। उसकी संवेदना को स्वीकारा है। ये गीत जिस भूमि पर उत्पन्न हुए हैं उस भूमि के रसगंध को अपने में समेटे हुए हैं। इसलिए इन गीतों में नागरिक, ग्रामीण, व्यक्तिगत, सामाजिक, प्रेम की प्रेमेत्तर प्रकार भावनाओं के भिन्न-भिन्न स्वरूप कवियों के व्यक्तित्त्वों एवं मानस संस्कारों के अनुसार लक्षित होते हैं। इन गीतों की उपलब्धि इनके तरल, सरल, रसमय, उच्छल प्रवाह और आवेगों में नहीं है अपितु इनकी बुद्धि संयत हार्दिकता, संवेदना के अनुभूत स्तरों में नियोजन, एक विशेष प्रभाव भूमि के अंतर्गत आने वाले बिखरे किंतु एक-दूसरे से

संक्रमित बोधों के संश्लेषण और अनुकूल बिंबो, प्रतीकों और लाक्षणिक प्रतीकों की खोज में हैं।

महादेवी वर्मा ने नवगीत को परिभाषित करते हुए लिखा है–"सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।

गीत का संबंध मानव के अंतस्तल से होता है जो सुख-दुख से प्रेरणा प्राप्त करके तीव्रतम भावों की अभिव्यक्ति करता है। वही भाव संगीत के साथ लयबद्ध होकर गीत कहलाते हैं। प्रायः सभी कालों में गीत की संरचना हुई है, किन्तु नई कविता के बाद के नवगीत उन सबसे अपना अलग अस्तित्त्व बनाये हुए हैं। परंपरा से अपने को मुक्त करके इन्होंने अपना संबंध जन-जीवन से जोड़ा है। गीतकारों ने आधुनिक गीत को नया भावबोध तथा विस्तृत आयाम दिया है जिसमें सर्वसाधारण मानव के जीवन-संघर्षों का चित्रण किया गया है। निराला के गीतों में नवगीत का आरंभिक स्वरूप देखने को मिलता है।

गीतकार- गीतकारों में हरिवंश राय बच्चन, रामेश्वर शुक्ल अंचल, गोपाल सिंह नेपाली, नरेन्द्र शर्मा, नीरज, जानकी वल्लभ शास्त्री तथा सोम ठाकुर आदि प्रमुख हैं।

नवगीत की भाव चेतना के आधार पर नव गीतकारों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

आधुनिकता बोध संपन्न- आधुनिकता की प्रवृत्ति निम्नलिखित गीतकारों में दृष्टिगोचर होती है। ओम प्रभाकर, सोम ठाकुर, भगवान स्वरूप नईम, विनोद गौतम, विजय किशोर, डॉ. सुरेश, राजेन्द्र गौतम, उमा शंकर तिवारी, राम चन्द्र भूषण, कुमार रवींद्र, शंभू नाथ सिंह, श्री कृष्ण तिवारी, राम सेंगर तथा अमर नाथ।

लोक बोध सम्पन्न- ठाकुर प्रसाद सिंह, दिनेश सिंह, अनूप अशेष, सुधांशु उपाध्याय, गुलाब सिंह, अखिलेश कुमार आदि।

प्रकृति बोध सम्पन्न- देवेन्द्र कुमार, ठाकुर प्रसाद सिंह, शिव बहादुर सिंह भदौरिया, अनूप अशेष तथा गुलाब सिंह आदि।

जातीय बोध सम्पन्न- उमाकांत मालवीय, देवेन्द्र शर्मा 'इंद्र', सोम ठाकुर, शंभूनाथ सिंह, राधे श्याम शुक्ल तथा नीरज आदि।

डॉ. कुंवर बेचैन ने नवगीत के शिल्प के विषय में लिखा है–

"आकार-प्रकार में संक्षिप्त गेयता को सुरक्षित रखने वाली उस काव्यविद्या को नवगीत कहेंगे, जिसमें सामाजिक यथार्थ की छाया में वैयक्तिक अनुभूतियों

को नव टटके प्रतीकों, बिंबों एवं ऐसी नई शब्दावली में अभिव्यक्त किया जाता है, जिसमें समसामयिक बोध का प्रकाश बलवती है। अनुकृति की सच्चाई, रागात्मकता की चमक, नवीन लाक्षणिक प्रतीकों की खोज, सामाजिक यथार्थ से व्यक्ति की समझ का संघर्ष, रचनात्मक स्तर पर जड़ परंपराओं का विरोध, भाव और विचारों का समन्वय ऐसे तत्त्व हैं जिनकी छाया में नवगीतों को पहचाना जा सकता है।"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नवगीत पारंपरिक गीतों से भिन्नता में विशेष रूप से पहचाना जाता है। शब्दों का चयन ग्रामीण अंचल एवं नागरिक परिवेश से किया जाता है। वस्तु पक्ष की भांति ही नवगीत का शिल्पपक्ष भी अति विशिष्टता एवं व्यापकता लिए हुए है।

समकालीन कविता

नामकरण

समकालीन कविता से पूर्व गद्य विद्या में कहानी के पश्चात् अकहानी तथा लघु कथा का रूप प्रचलित हो चुका था उसी को आधार बनाकर नवगीत के पश्चात् पद्य विधा में जिस नवीन विधा का आविर्भाव हुआ उसे अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत कविता, विद्रोही पीढ़ी, कबीर पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी आदि अनेक नाम दिए गए।

सन् 1960 ई. के आस-पास नई कविता और नवगीत की धारा अपने से कुछ अलग होती हुई परिलक्षित है जिसे अनेक नाम दिए गए हैं। उपर्युक्त नामों में दो वर्ग दृष्टव्य होते हैं–

1. अकविता, अति कविता, अस्वीकृत कविता।
2. विद्रोही पीढ़ी, कबीर पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी।

दो मदों को समस्त पद रूप से समन्वित करके नामकरण किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्योमितीय शब्दावली में कहा जा सकता है कि 'कविता' शब्द और 'अ' उपसर्ग उभयनिष्ठ हैं। उभयनिष्ठ को अलग कर दिया जाए तो 'अ' एवं 'कविता' शब्द शेष रह जाते हैं ये दोनों ही बहुचर्चित पद हैं इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। नकारात्मक 'अ' का अर्थ विहीनता एवं न होना है। कविता के तत्त्वों को नहीं नकारा गया है जो नहीं है वह क्या है? लगता यह है कि मात्र अकहानी के आधार अकविता कहां कैसे कविता एवं

अकविता में कोई भेदक तत्त्व प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह तथ्य अवश्य सामने आया है कि अकविता में नकारात्मक नहीं अपितु विशिष्टता अथवा चमत्कार का भाव भरा गया है। यथा 'खालिस' शुद्धता का द्योतक शब्द है उसमें 'नि' नकारात्मक उपसर्ग इसी अर्थ में नहीं लिया जाता है अपितु विशिष्टता या चमत्कारी अर्थ देने के लिए 'खालिस' से 'नि' + 'खालिस' त्र निखालिस शब्द का निर्माण किया गया है जो विशेष शुद्धता का द्योतन करता है। उसी प्रकार 'कविता' से अलग उसमें विशिष्टता तथा चमत्कार का भाव भरने के लिए 'अकविता' शब्द का निर्माण किया।

द्वितीय वर्ग के नामों के विश्लेषण से ज्ञात है यह नामकरण भी दो समस्त पदों से निर्मित है। ये पद विद्रोही, कबीर, क्रुद्ध तथा भूखी एवं पीढ़ी है। पीढ़ी पद उभयनिष्ठ है। 'पीढ़ी' का अर्थ वर्ग होता है। मानव सभ्यता का विकास पीढ़ी दर पीढ़ी अग्रसर है। इसी प्रकार नई कविता, नवगीत के पश्चात् आने वाले वर्ग को पीढ़ी का नाम दिया गया है। पीढ़ी विकास वंश परंपरा का विकास होता है। दादा के पश्चात् पिता, पिता के पश्चात् पुत्र अस्तित्त्व में आता है। दादा–पोते की धारणा, भाव, चिंतन एवं दर्शन में समयांतराल के परिणामस्वरूप परिवर्तन आ जाता है यह परिवर्तन ही संघर्ष का कारण है। कुछ समय पूर्व तक दादा–पोता से संघर्ष पीढ़ी संघर्ष का रूप धारण कर गया अर्थात–पिता–पुत्र में पीढ़ी संघर्ष आया। वर्तमान में यह पीढ़ी संघर्ष दशक संघर्ष का रूप धारण कर गया है अर्थात् दस वर्ष के अंतराल में वैचारिक भिन्नता आ जाती है जिसके परिणामस्वरूप पुरातन नवीन का संघर्ष चलता है। यह संघर्ष अनादि काल से चलता रहा है चल रहा है चलता रहेगा। पुरातन पीढ़ी नवीन पीढ़ी को जन्म देती है तथा उससे संघर्ष करती है।

नई कविता एवं नवगीत ने समकालीन कविता को जन्म दिया। अब रह गया प्रश्न पीढ़ी से पूर्व लगे पूर्व पदों 'विद्रोही', 'कबीर', 'क्रुद्ध' तथा 'भूखी'। इन शब्दों में रूप भेद हैं, किन्तु आत्मा एक है इसलिए अर्थ भेद नहीं है। विद्रोह का अभिप्राय पुरानी मान्यता को अस्वीकारना तथा नवीन मान्यता की स्थापना करना है। इस कार्य में प्राचीन पुरातनवादी कवि नवीनतावादियों का विरोध करता है, नवीनतावादी कवि प्राचीनतावादी अथवा पुरातनवादियों का विरोध प्रकट करता है। यह विरोध विद्रोह या संघर्ष कहलाता है। कबीर विद्रोही कवि थे इसलिए कबीर को विद्रोह का प्रतीक बना दिया गया। कबीर को बाह्याडंबर, अंधविश्वास तथा रूढ़ियों से अत्यधिक घृणा थी इनको देखते ही वे क्रुद्ध हो जाते थे उनमें क्रोध भावना का उदय हो जाता था।

'क्रोध' विद्रोह का पर्यायवाची बन गया। अधिकांश समकालीन कविता के कवियों का संबंध निम्न मध्यवर्गीय परिवार से था जो भूख प्यास से बेचैन होकर क्षुधा मिटाने के लिए विद्रोही हो गया। भूखी-नंगी पीढ़ी विद्रोही होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समकालीन कवि विद्रोही, कबीर जैसे विद्रोही, क्रुद्ध एवं भूखी-नंगी पीढ़ी अर्थात् निर्धनता वर्ग था। इन सभी नामों का एक ही अर्थ अपनी पूर्व पीढ़ी के विद्रोह में नवीन मान्यता एवं धारणा की स्थापना करना था। अपने उद्देश्यानुसार उन्होंने अपनी कृतियों की प्रवृत्ति विशेष को नाम दिया है। ये नामकरण अनुभूतिजन्य, संवेदनशील तथा यथार्थ पर आधारित हैं। इनके दर्शन एवं मूल्यों में परिवर्तन आ गया है।

सन् 1960 ई. के बाद काव्य क्षेत्र में नवीन मोड़ दृष्टिगोचर हुआ। वह एकाएक दृष्टिगोचर होने वाली कोई नवीन वस्तु नहीं है अपितु नई कविता एवं नवगीत से ही विकसित, प्रस्फुटित हुआ है। अकविता वालों ने अपनी कविता को अलग करने के लिए उसे अकविता नाम दिया। इस प्रकार समकालीन कविता अर्थात् अकविता नई कविता तथा नवगीत से बिलकुल अलग नहीं अपितु उसी का विकसित रूप है। यही कारण है कि अकविता वाले मौलिकता के आधार अकविता को कविता, नई कविता या नवगीत से अलग स्थापित नहीं कर सके। वास्तविकता यह है कि सन् 1960 ई. के बाद अकविता में जो स्वर उगे हैं, बीजवपन नई कविता में हो चुका था। नवगीत में अंकुरित होकर इस कालावधि में प्रस्फुटित हुआ है। ये स्वर नई कविता के मौलिक स्वरूप या मूलाधार नहीं थे किंतु नई कविता तथा नवगीत से इनको सर्वथा भिन्न भी नहीं कहा जा सकता है जैसा अकविता वाले करते हैं।

❐❐❐